पंडित देवीदत्त शुक्ल

साहित्यिक-पुस्तकमाला—प्रथम पुष्प

कुछ खरी-खरी

लेखक

पण्डित देवीदत्त शुक्ल

प्रकाशक

श्रीरमादत्त शुक्ल, बी० ए०

कल्याण-मन्दिर, कटरा, प्रयाग

प्रथम संस्करण] सवत् २००६ वि० [मूल्य २)

क्षमा याचना

'सम्पादक के पच्चीस वर्ष' नाम की पुस्तक मैने हाल में लिखी है। उसमें बहुसख्यक लेखक महानुभावों का उल्लेख हुआ है। वह सब उल्लेख करते समय मुझे कर्त्तव्य ने बाध्य किया कि मैं अपने उन सब लेखों को पहले पुस्तक-रूप में प्रकाशित करूँ, जिनमें मैंने कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों के सम्बन्ध मे अपने अत्यधिक स्पष्ट विचार प्रकट किये हैं। तभी उपर्युक्त पुस्तक का प्रकाशित करना ठीक होगा। फलतः यह 'कुछ खरी-खरी' नाम की पुस्तक उन्ही लेखों का सग्रह मात्र है। इसके अधिकाश लेख मैने गुमनाम लिखे हैं। इससे यह और भी आवश्यक हो गया कि मैं इनका पुनः प्रकाशन कर इनका दायित्व ग्रहण करूँ। इन लेखों मे मैंने अपने गुरुजनो, घनिष्ठ मित्रों तथा सहयोगियों के प्रति आक्षेपपूर्ण बाते लिखी हैं। वह सब मैंने उस समय भले ही कर्त्तव्य की प्रेरणा या हिन्दी-हित-भावना से लिखा हो किन्तु आज मैं जब अपने जीवन के अन्तिम चरण में प्रवेश कर चुका हूँ तब मेरा हृदय उनके लिए अत्यधिक दुःखी हो रहा है। मै इस समय यही समझता हूँ कि इन लेखों में जो कुछ मैंने लिखा है, वह भले ही ठीक हो परन्तु उनका स्वर शिष्टजनानुमोदित नहीं हो सकता। वे सब बातें दूसरे ढग से भी लिखी जा सकती थी। अतएव मैं प्रकट रूप से इनकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेना अपना कर्त्तव्य मानता हूँ और उन सब महानुभावों से, जिनके प्रति मैने इन लेखों में अनुचित तथा अशिष्ट भाषा का प्रयोग किया है, करबद्ध होकर क्षमा-याचना करता हूँ। मुझे विश्वास है कि इस स्वीकारोक्ति से मेरे कृत अपराध का प्रायश्चित्त हो जायगा। इससे अधिक मैं और कर ही क्या सकता हूँ।

मातृनवमी आश्विन २००६ — क्षमाप्रार्थी

कटरा, प्रयाग — देवीदत्त शुक्ल

विषय-सूची

१—हिन्दी प्रचार के कुछ बाधक कारण

इधर कुछ समय से हिन्दी ने नया रूप धारण किया है। जिस सजधज के साथ आजकल हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन हो रहा है, वह मनोमोदकर ही नहीं किन्तु नेत्ररंजक भी है। काशी, कलकत्ता, प्रयाग, बम्बई आदि नगरों के उत्साही हिन्दी-भक्तों ने नई-नई कम्पनियाँ खोलकर हिन्दी-पुस्तक-प्रकाशन का कार्य बड़े ही उत्साह से करना आरम्भ कर दिया है। ये हिन्दी-भक्त हिन्दी-साहित्य को सर्वाङ्ग-सुन्दर बनाने की चेष्टा में निरत हैं। यही कारण है, जो आजकल हमें नित नई पुस्तकें पढ़ने को मिलती हैं। इन पुस्तकों में अधिकांश पुस्तकें उच्च-भाव-सम्पन्न ही नहीं, किन्तु उनकी छपाई-सफाई भी प्रशंसनीय हुआ करती है।

एक दिन वह था जब हिन्दी-पुस्तकें बड़ी ही रद्दी दशा में प्रकाशित होती थीं। न तो उनका कागज ही अच्छा होता था और न छपाई ही अच्छी होती थी। न उनकी जिल्द ही अच्छी बँधी होती थी और न उनकी भाषा ही प्राञ्जल। न उनके विषय ही विशेष लाभदायक होते थे और न उनकी लेखशैली ही मँजी होती थी। अब तो समय ही पलट-सा गया है। छाँट-छाँटकर पुस्तकें लिखी जाती हैं। अच्छे-अच्छे विषय चुन-चुनकर लेखक लेखनी उठाते हैं। पुस्तक-प्रकाशन भी जी लगाकर शुद्धतापूर्वक पुस्तकें छापते हैं। सुन्दर जिल्दें बाँधकर और पुस्तकों को सुन्दर चित्रों से विभूषित करके वे सर्व-साधारण का मन लुभाते हैं।

क्या ये बातें हतभागिनी हिन्दी के सौभाग्य की सूचक नहीं? जरूर हैं। इसमें अत्युक्ति नहीं कि प्रति वर्ष नई-नई

पुस्तकें प्रकाशित होती है और उनका प्रचार भी बढ रहा है परन्तु इस प्रचार के सम्बन्ध मे हमारा एक निवेदन है। हमारे नव्य साहित्य का प्रचार एक विशेष सीमा के भीतर परिमित है। हम देखते हैं कि जन-साधारण मे उसका अधिक प्रचार नही।

यदि जन-साधारण मे नव्य-साहित्य का अधिक प्रचार न हो तो दु ख की बात है क्योंकि जब तक जन-साधारण हमारे वर्त्तमान साहित्य से उदासीन रहेगा तब तक हिन्दी की यथेष्ट उन्नति नहीं हो सकती। जन-साधारण से हमारा मतलब उन लोगो से है, जो अँगरेजी नही जानते अथवा जो अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगो मे नही बैठते-उठते। इनमे ऐसे लोगो की सख्या तो थोडी ही है, जो सस्कृतज्ञ है। हिन्दी-पढ़े लोगो ही की सख्या अधिक है। सो इन दोनो दलो मे नव्य साहित्य की काफी पैठ नही। देखिये न, सस्कृतवाले आज भी हिन्दी से उदासीन है। यह बात हमीं नही कहते। हिन्दी के धुरन्धर लेखक तक इसे स्वीकार करते है। यह क्यो? क्या कभी इस बात का कारण ढूँढ़ा गया है? क्या कभी कोई ऐसा प्रयत्न भी किया गया है, जिससे हम सस्कृतवालो को हिन्दी की तरफ झुका सके?

संस्कृतवालो की एक शिकायत है। उनका कहना है कि सस्कृत-ग्रन्थो का हिन्दी में अनुवाद होना क्या है, मानो उनका सर्वनाश करना है। इन लोगो का यह आक्षेप कुछ अशो में ठीक भी है। निस्सन्देह कुछ लोगो ने सस्कृत-ग्रन्थो का अनर्गल अनुवाद करके हिन्दीवालो पर उपर्युक्त आक्षेप किये जाने का अवसर दिया है।

कुछ लोगो के ध्यान मे यह बात आ भी गई है और उन्होने इस भूल-सुधार के लिए प्रयत्न भी किया है। दक्ष हिन्दी-लेखकों

ने अयोग्यो को अनुवाद-कार्य करने से विरत कर दिया है। समालोचना के प्रभाव से अयोग्यो ने भी अनुवाद-कार्य से किनारा कर लिया है। यह इसी प्रयत्न का फल है, जो आज हम अनूदित पुस्तके अधिकाश मे अच्छी ही पाते है। सुयोग्य ही अब अधिकतर अनुवादकार्य करते है।

तथापि हमे इस बात का अभी सन्देह बना हुआ है कि हम सस्कृतवालो को हिन्दी की ओर आकृष्ट करने मे समर्थ हुए है या नही। यह जानने के लिए हमारे पास साधन भी है। साहित्य-सम्मेलन के प्रतिनिधियो की नामावली, प्रति वर्ष प्रकाशित होनेवाली पुस्तको के रचयिताओ के नाम और समाचार-पत्र-पत्रिकाओ के ग्राहको की सूची देखने से इस बात का पता लग सकता है। शायद ही सैकडे पीछे पॉच आचार्य, तीर्थ और शास्त्री प्रतिनिधि, पुस्तक-प्रणेता और ग्राहक हमें मिले। यह क्यो ?

यह तो हुई सस्कृतवालो के सम्बन्ध की चर्चा। अब केवल हिन्दी जाननेवालो की बात सुनिये। हमारे नव्य साहित्य से उनका कितना परिचय है ? इन बेचारो के पास इतनी गुञ्जायश ही नही कि ये बड़ी बडी मालाओ, कुसुमावलियो और रत्नहारो इत्यादि के स्थायी ग्राहक हो सके। ऐरे-गैरे ग्रन्थो की चाशनी चखते-चखते ये लोग उकता गये है। उन्हें पढने की ये अब जरूरत ही नही समझते।

कोई कोई तो यह कहते हैं कि हिन्दीवालो मे ऐसे ही लोगो की सख्या अधिक है, जो नव्य साहित्य की कठिन इबारत समझ ही नही सकते। वह एक ऐसे सॉचे में ढाली जाती है, जिससे देहाती आदमी प्राय अपरिचित है। यह बात उपेक्षणीय नहीं।

हिन्दी की सच्ची उन्नति तभी होगी जब उपादेय विषयों से पूर्ण साहित्य का जनसाधारण मे प्रचार होगा। यह नही कि हमारे अँगरेजी पढ़नेवाले मातृ-भाषा-भक्त स्कूली नवयुवक अपना धन हिन्दी की नव-प्रकाशित अण्ड-बण्ड पुस्तके खरीदने मे पानी की तरह व्यर्थ ही बहाया करे, और देहात के थोड़ी-बहुत संस्कृत जाननेवाले तथा हिन्दी मिडिल-स्कूल • पास विद्यार्थी 'ज्योतिषसार' और 'जागता जादू' ही पढ़कर अपने को कृत-कृत्य माने। मतलब यह कि हिन्दी-भाषा-भाषियो का एक बहुत बड़ा समुदाय हमारे नव्य साहित्य से लाभ उठाने से वञ्चित रहता है।

यह उदासीनता दूर करने के लिए वही व्यक्ति आगे बढ सकेगा, जिसे अपने समाज की सच्ची अवस्था का ज्ञान है। हमारे समाचार-पत्र और पत्रिकाये, यदि वे चाहें तो, इस कार्य के साधन मे हमारी बडी सहायता कर सकती है परन्तु उनके सम्पादक इस ओर विशेष ध्यान नहीं देते।

ऐसे पत्रो की संख्या कम है, जिनका कलेवर दीनो की दुरवस्था के वर्णन से भरा जाता हो। देहातियो को जैसी-जैसी असुविधाये झेलनी पडती हैं, उनके सम्बन्ध की चर्चा करना प्रत्येक सम्पादक का काम है। कई सम्पादक अँगरेजी पत्रों की प्रतिद्वन्द्विता करने ही को अपना कर्त्तव्य समझते है। वे राजनीति पर ही बहुधा अधिक लिखते हैं। समाचार-सग्रह करने की वे विशेष चेष्टा नहीं करते। भला कूटनीति और गहन राजनीति समझने की क्षमता देहातियों मे कहाँ? मतलब यह कि जिनके पैसे की बदौलत समाचार-पत्र चलते हैं, उनकी रुचि का भी तो खयाल रखना चाहिए।

हमारा यह मतलब नही कि सम्पादक लोग गम्भीर विषयो का समावेश अपने पत्रो मे न किया करे। और न हमारा यही

उद्देश्य है कि कोई सम्पादक अलमस्त योगी बनकर स्वर्गीय गान का आलाप न करे। हमारा तो विनम्र निवेदन यही है कि जहाँ आप मौज मे आकर अफरीका के जङ्गलियो के सम्बन्ध की सूक्तियाँ सुनाया करते है अथवा अपने पाठको को प्रसन्न करने के लिए उत्तरी ध्रुव की सैर के वर्णन किया करते हैं, वहाँ कभी कभी अपने देश की पतित जातियो और निरीह देहातियो पर भी करुण दृष्टि फेर दिया करे। हम चाहते है कि सर्व-साधारण मे हमारे समाचार-पत्रो का आदर हो परन्तु उनमे उनके काम की बाते कम रहती है। इसी सूबे से महकमा जिरात तरह तरह के 'बुलेटिन' निकाला करता है। उसमें देहातियो के काम की सैकडो बाते होती है पर कोई उनकी आलोचना नही करता। वे लोग पढ़े क्या! हमने एक बार कही पढा था कि जापान के इक्केवाले तक अखबार पढ़ने के शौकीन है। इधर हमारे देश के पण्डित तक अखबार नही छूते! यह दशा क्यो?

प्रत्येक सम्पादक को चाहिए कि वह सर्व-साधारण की रुचि का खयाल रक्खे। तभी हिन्दी के अधिक प्रचार की आशा हो सकती है। उन्हे अपने पत्रो मे ऐसे लेखो को भी स्थान देना चाहिए, जिनको पढने से सर्व-साधारण का लाभ हो। सबके मनोरञ्जन का मसाला होना चाहिए। जहाँ देश के राजनैतिक, सामाजिक आदि आन्दोलनो के सम्बन्ध मे सम्पादक उदारता प्रकट किया करते है, वहाँ उन्हें खेती, सफाई, कलाकौशल, व्यापार और देहातियो पर होनेवाले अत्याचारो के सम्बन्ध से भी लेख लिखने चाहिए। देहातियो पर जमींदार कितना अत्याचार करते हैं, बहुधा पटवारियो और पुलिस से लोगो को कितना कष्ट मिलता है—ये ऐसी बाते

है, जिन पर सम्पादको को सदा ध्यान देना चाहिए। तभी उसके पत्र की खपत जनता मे अधिक होगी।

पुस्तक-प्रणेता भी बहुधा मनमानी करने से बाज नही आते। इन लोगो का भी ध्यान समाज की आवश्यकताओ पर विशेष नही। इन्हे यदि किसी बात का ध्यान है तो बस इतना ही कि हमारा हिन्दी-साहित्य-भाण्डार अन्य भाषाओ के श्रेष्ठ ग्रन्थो के अनुवादो से भर जाय। हम यह नही कहते कि अन्य भाषाओ के ग्रन्थो का भाषान्तर न हो। हमारा कहना तो इतना ही है कि डार्विन और हक्सले के सिद्धान्तो का प्रचार यदि हिन्दी मे हो तो साथ ही ऐसे ग्रन्थ भी बने, जो सर्व-साधारण को भी लाभ पहुँचा सके। हम तो भला मनावेगे उन लोगो का, जिन्होने अमृतसागर और ज्योतिषसंग्रह लिखकर हजारो आदमियो का कल्याण-साधन किया है। कोई नाटक लिखता है तो कोई चम्पू परन्तु कोई ऐसा नही दिखलाई पडता, जो कम-से-कम एक ऐसा पञ्चाङ्ग ही बना डाले, जिससे सर्व-साधारण को एकादशी पूछने के लिए पण्डितो के द्वार न झाँकने पड़े।

सस्कृत से हिन्दू-जाति का गहरा सम्बन्ध है। जनसाधारण कृष्ण-द्वैपायन का जितना आदर अभी करता है, उतना स्पेन्सर का नही। अर्जुन के नाम से जितना प्रभाव हम लोगो पर पड़ता है, उतना नेपोलियन के नाम से नहीं। अतएव पुस्तक-प्रणेताओ को पहले अपने घर की ओर निगाह करनी चाहिए, तब दूसरी ओर। अर्थात् उन्हें सस्कृत-साहित्य-सागर मथकर भी सुन्दर सुन्दर रत्न निकालने चाहिए। अँगरेजी और बँगला-भाषा की पुस्तको के आधार पर तो पुस्तक-प्रणयन हो ही रहा है।

जन-साधारण का ध्यान हिन्दी की ओर ऐसे ही उपायों से अधिक आकृष्ट हो सकता है। इन लोगों की उदासीनता से हिन्दी की बड़ी हानि है। उस हानि से हिन्दी को बचाना अपने देश और अपनी भाषा के शुभचिन्तकों का परम कर्तव्य है।

जुलाई १९१७

२—हिन्दी पुस्तकों की खोज

काशी की नागरी प्रचारिणी-सभा हिन्दी की पुरानी पुस्तकों की खोज का काम एक जमाने से कर रही है परन्तु अब तक उसके इस महत्त्वपूर्ण कार्य की कुल ग्यारह रिपोर्टें ही निकल सकी हैं। उसकी यह पिछली ग्यारहवीं रिपोर्ट सन् १९२९ में निकली है और यह सन् १९२०-२२ के सालों में की गई खोज की रिपोर्ट है। इस रिपोर्ट को प्रसिद्ध पुरातत्त्व-विद् रायबहादुर हीरालालजी बी० ए० ने लिखा है। इसके पहले की रिपोर्टें बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० और पण्डित श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० की लिखी हुई हैं।

खोज का काम सन् १९०० में शुरू हुआ था। प्रारम्भ में ८ वर्ष तक यह काम बाबू श्यामसुन्दरदास ने किया। उसके बाद १२ वर्ष तक पण्डित श्यामबिहारी मिश्र ने किया। सन् १९२१ में यह काम पण्डित शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए० को सौंपा गया परन्तु सन् १९२२ की जुलाई में उन्होंने इस्तीफा दे दिया। अतएव इसका भी सारा भार बाबू श्याम-सुन्दरदास ने अपने ऊपर ले लिया लेकिन समयाभाव के

कारण वे यह काम नहीं कर सके। फलतः छ महीने के बाद सभा ने यह कार्य बाबू हीरालालजी को सौंप दिया एवं उन्होंने सभा के इस पिछड़े हुए काम को सहर्ष कर दिया और अच्छे ढंग से कर दिया। तो भी उनकी लिखी यह ग्यारहवीं रिपोर्ट सन् १६२६ में प्रकाशित हुई।

खोज की ये महत्त्वपूर्ण रिपोर्टें देखने का सौभाग्य हमें बहुत कम प्राप्त हुआ है। सभा की ये रिपोर्टें सरकारी रिपोर्टों की भाँति सब किसी को सुलभ भी नहीं हैं। भगवान जाने, ये कितनी छपती हैं और इनका कहाँ कैसे वितरण होता है। चाहे जो हो, इन रिपोर्टों से सर्वसाधारण ने उतना लाभ नहीं उठाया है, जितना उन थोड़े से लोगों ने जिनको ये सुलभ रही हैं। और सबसे अधिक लाभ तो उठाया है खोज विभाग के एक भूतपूर्व सुपरिंटेंडेंट पण्डित श्याम-विहारी मिश्र ने, जिन्होंने इसकी सहायता से अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मिश्रबन्धुविनोद' लिखा है, जिसमें हिन्दी की रत्न राशि के साथ-साथ उसका कूड़ा करकट भी यथास्थान एकत्र कर दिया गया है। ये रिपोर्टें ऐसे ही महत्त्व की हैं। इनका आकलन करने से हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठता एवं विशालता का बहुत कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है परन्तु खेद की बात है कि ये सर्वसाधारण के उपयोग में नहीं आतीं। ये उक्त सभा के भव्य भवन या सरकारी संस्थाओं के पुस्तक-भाँडारों में ही सुरक्षित रहती हैं। यदि सभा ये रिपोर्टें सार्वजनिक संस्थाओं या हिन्दी के सुलेखकों को बिना मूल्य के नहीं प्रदान कर सकती, तो इतना वह जरूर कर सकती है कि नई रिपोर्ट के मिलने के बाद उसकी मुख्य मुख्य बातों का विवरण ही कुछ पत्रों में प्रकाशित करवा दिया करे। इससे सभा और हिन्दी साहित्य, दोनों का हित हो सकता

है। ऐसा करने से रिपोर्ट की कापियों के बिकने की भी अधिक सम्भावना हो सकती है। साथ ही साहित्यचर्चा भी इनके आधार पर होगी। रिपोर्ट के खोज सम्बन्धी नये विवेचनो से साहित्य सम्बन्धी भ्रान्तियाँ दूर हो जायँगी। इसके सिवा यह भी होगा कि इन रिपोर्टो की भूलो की चर्चा हो जायगी। और इन सबसे सभा के इस महान् कार्य को उसके अनुरूप विशेष महत्त्व ही प्राप्त होगा। आशा है, सभा के कार्यकर्ताओ का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो‌गा और वे कोई ऐसा प्रबन्ध कर देगे, जिससे रिपोर्ट निकलने के बाद सामयिक पत्र पत्रिकाओ मे इनकी चर्चा हो जाया करे।

अब हम यहाँ इस ग्यारहवी रिपोर्ट का सक्षेप मे परिचय देते हैं।

इस रिपोर्ट की पृष्ठसख्या ५०८ है। इसमें खोज के काम की रिपोर्ट कुल ३३ पृष्ठो में आ गई है। इसके शेष अश मे ४ उपसहार तथा दो इडेक्स है। पहला उपसहार ८३ पृष्ठ का है। इसमे खोज में आये हुए ग्रन्थकर्ताओ का परिचय दिया गया है। दूसरा उपसहार ३७५ पृष्ठ का है। इसमे पुस्तको का परिचय तथा उनके आदि अन्त के नमूने दिये गये हैं। तीसरे उपसहार में उन ग्रथो के परिचय हैं, जिनके रचयिताओ का पता नही लगा। इसकी पृष्ठ सख्या ९८ है। चौथा उपसहार पाँच पृष्ठ का है इसमे सन् १८५० के बाद के ग्रथकर्ताओं की सूची दी गई है। पुस्तकान्त मे ग्रथकर्ताओ और पुस्तको के अलग अलग इडेक्स लगाये गये हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक ढग से इस रिपोर्ट की रचना की गई है।

रिपोर्ट में खोज की गई पुस्तको का ब्योरा इस प्रकार दिया गया है—सन् १९२० मे ७२, सन् १९२१ में १०५ और सन् १९२२ में २३५ पुस्तके खोजी गईं। एजेन्टों ने सन्

१८५० के बाद की पुस्तको के भी परिचय लिखे थे। ऐसी ७७ पुस्तको का परिचय इस रिपोर्ट मे नही लिखा गया। इसके सिवा दो पुस्तके गुजराती भाषा में थीं और दो अपूर्ण थीं। अतएव इसमे ८१ पुस्तको का परिचय नहीं दिया गया है। कुल ३२४ पुस्तको और २०७ ग्रन्थकारो का ही परिचय इसमें दिया गया है।

इस रिपोर्ट में ३१ नये ग्रथकारो का पता दिया गया है। रिपोर्ट के लेखक महोदय न इनमें बारह ग्रथकारो को सत्कवि स्वीकार किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं १ चक्राकि-, २ चण्डदास, ३ चण्डे गोपाल, ४ चन्द्र, ५ छविराम, ६ दशरथीदास, ७ दत्तू, ८ कुञ्जमणि ९ लक्ष्मीकान्त, १० मधुर अली ११ मूलराम और १२ रामशेखर। इन सत्कवियो के नाम तक का पता न था। सभा की खोज की बदौलत ही ये प्रकाश मे आये हैं। यहाँ हम स्थानाभाव से इनमे से केवल चार कवियों का उल्लेख करेंगे—

(१) चक्रांकित—इस कवि की नृगोपाख्यान नाम की पुस्तक के केवल चार पृष्ठ मिले हैं। गोस्वामीजी की भाँति इस कवि ने दोहा चौपाइयो में सुन्दर रचना की है। पूरी पुस्तक के मिलने पर इस ग्रथ की हिन्दी के श्रेष्ठ काव्य मे गणना होगी।

(२) चण्डदास—ये बडी स्वाधीन प्रकृति के साधु थे। ये हँसवा (फतेहपुर) मे गगा के तट पर अपनी कुटी में रहते थे। खत्री थे। भक्त विहार, कृष्णविनोद और रामरहस्य नाम का तीन रचनाएँ मिली हैं। कृष्णविनोद भागवत् के दसवें स्कन्ध का पद्यबद्ध अनुवाद है।

(३) चन्द्र—ये तुलसीदास के पहले के हैं। इन्होंने दोहा चौपाइयो मे हितोपदेश का अनुवाद किया है। इनकी

रचना गोस्वामीजी की तरह प्रांजल हुई है। सम्वत् १५६३ में इन्होंने अपना 'हितोपदेश' लिखना शुरू किया था।

(४) दत्तू—ये काश्मीरी कवि हैं। इनकी दो रचनाएँ मिली हैं। एक ब्रजराजपचाशिका है जिसमे जम्मू के राजकुमार ब्रजराजदेव की चढाई का वर्णन है, दूसरी 'वीर-विलास' द्रोणपर्व (महाभारत) का पद्यबद्ध अनुवाद है।

रिपोर्ट मे इन नये कवियों के सिवा जिन पुराने कवियों का विवरण दिया गया है, उनमें से कई एक का विवरण मनोरजक तथा ज्ञातव्य है। हम यहाँ कुछ का सक्षेप मे उल्लेख करते हैं—

(१) चरणदास—ये एक पुराने प्रसिद्ध कवि है। 'अनेक प्रकाश' नाम का इनकी एक पुस्तक मिली है। इसमें इनकी दस पुस्तको का सग्रह है। इसके अन्त में लिखा है कि इन महात्मा ने सम्वत् १७८१ में इस पुस्तक के लिखने का विचार किया। जब इन्होने पाँच हजार पद्य लिख डाले और ग्रथ पूर्ण हो गया, तब उसे गुरु के नाम पर गगाजी मे फेक दिया। इसके बाद उसकी रचना फिर शुरू की। इस बार 'हरि' के नाम पर अग्नि के हवाले कर दिया। तीसरी बार जब फिर उसे लिखा, तब गुरु की आज्ञा से इन्होने सन्तों को दे दिया। ये अलवर-राज्य में रहते थे।

(२) देवीदास—इन्होंने 'सूमसागर' नाम का एक विचित्र ग्रन्थ लिखा है। समाज मे सूम को कैसा महत्त्व प्राप्त है, उसकी क्या विशेषताएँ हैं, वह कितनी श्रेणियो में विभक्त है तथा प्रत्येक श्रेणी के सूम के क्या लक्षण हैं, ये सब बाते विस्तार के साथ इस ग्रथ मे लिखी गई हैं। यह हास्य रस की अनूठी रचना है। खेद है, यह पूरी नहीं मिली।

(३) लक्ष्मीधर त्रिपाठी—इन्होने 'साठिकाफल' नाम की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। इसमें खेती का उपज का महीनेवार बाजार भाव दिया गया है। इसमें सम्वत् १६१४ से सम्वत् १६७४ तक का बाजार-भाव लिखा गया है। इतिहासकारो के लिये यह एक उपयोगी पुस्तक हो सकती है।

(४) अनाथदास—इन्होने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक, जिसमें दो हजार पद्य है, बारह दिन मे लिखा था।

(५) पलटूदास—इनकी जो रचनाएँ मिली हैं, उनमे प्रकट होता है कि ये श्रेष्ठ कवि थे। इनकी कुण्डलियाँ अग्रदास और गिरिधर कविराय की तरह सुन्दर प्रभाव डालनेवाली हैं।

(६) बनादास—ये एक नये कवि है। इनके १८ ग्रंथ पहले पहल मिले हैं।

कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें, जो पहले पहल मिली हैं, ये हैं—

(१) बिहारी सतसई पर अजबेश की टीका।

(२) पन्ना के प्राणनाथ के प्रसिद्ध ग्रन्थ। 'कुलजमसुरूप' की 'अजीररास' के नाम से नकल।

(३) रहीम कवि के दो मदनाष्टक।

(४) विद्यापति की 'कीर्तिलता'।

रिपोर्ट के विद्वान् लेखक ने जगह जगह पर पहले की कतिपय भूलो का सशोधन विशेष ध्यान के साथ किया है, तथापि दो-एक महत्त्वपूर्ण बातो की उन्होने भी उपेक्षा की है। उदाहरण के लिये 'वृत्त-कौमुदीकार' मतिराम का विवाद है। इस सम्बन्ध में जो वाद-विवाद अब तक हुआ है, वह उपेक्षा के योग्य नहीं है। उनको इस विवाद का यथास्थान उल्लेख कर

इस सम्बन्ध मे अपना स्वतन्त्र मत देना चाहिये था परन्तु उन्होने इस सम्बन्ध मे कुछ भी नही लिखा है। इसी तरह सुखदेव मिश्र के सम्बन्ध मे भूल हो गई है। उन्होने लिखा है कि 'सुखदेव मिश्र रायबरेली-जिले के कपिला के निवासी थे, जहाँ से वे दौलतपुर में जा बसे।' परन्तु यह बात इस तरह होनी चाहिये—'सुखदेव मिश्र कपिला के निवासी थे परन्तु वे रायबरेली जिले के दौलतपुर मे जा बसे।' तीर्थराज के विवरण मे भी काफी गड़बड़ हो गया है। तीर्थराज डौड़िया-खेरे के राजा राव मर्दनसिंह के कवि थे और 'राजा अचल-सिंह' इन्हीं राव मर्दनसिंह के पुत्र का नाम है। शम्भुनाथ त्रिपाठी के परिचय में लेखक महोदय ने स्वय 'महाराजकुँवर अचलसिंह' का उल्लेख किया है। यदि आप सरोजकार की बात मानकर इस सम्बन्ध मे ध्यान देते, तो उससे तीर्थराज का विवरण ही न शुद्ध हो जाता किन्तु उसके साथ ही शम्भुनाथ सम्बन्धी भूल का भी सशोधन हो जाता। 'विनोद' की बात मानकर उन्होंने शभुनाथ को असोथर का निवासी लिख दिया, जो गलत है। शम्भुनाथ बकसर के निवासी थे। इसी प्रकार उन्होंने सुवश को 'बिगहपुर' का निवासी बताकर भूल की है। सुवश टेढ़ा के निवासी थे।

रिपोर्ट के विद्वान लेखक ने कवियो का परिचय देते हुए उनके सम्बन्ध मे प्रचलित कतिपय भूलो का यथास्थान जो सशोधन किया है, वह सब महत्त्वपूर्ण है और हिन्दी के प्रेमियों के लिये ज्ञातव्य है। अतएव हम यहाँ उनके सशोधनो का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१–अम्बरदास—'विनोद मे ये गुरु नानक के शिष्य लिखे गये हैं परन्तु रिपोर्ट में यह बात गलत बताई गई है।

२–आनन्द— विनोद' मे इनका समय सम्वत् १७११ माना गया है। सन् १६०२ की रिपोर्ट में इनकी एक पुस्तक का परिचय दिया गया है। उस पुस्तक में सम्वत् १७६१ लिखा हुआ है, अतएव 'विनोद' का समय प्रमाणरहित है।

३–वशीधर—ग्रियर्सन साहब ने इनका जन्म-काल सन् १८५४ माना है परन्तु यह समय ठीक नहीं है। इनकी साहित्य-तरंगिणी में उसका रचना-काल सन १८५० दिया गया है।

४–फतेहसिंह—इस कवि ने दो किताबे लिखी हैं। एक का नाम 'गुणप्रकाश' और दूसरी का नाम 'मत चन्द्रिका' है। इसने अपनी इन दोनो किताबो के उर्दू नाम भी दिये है। इन दोहरे नामों से मिश्रबन्धु भ्रम में पड़ गये और उन्होंने इसे चार पुस्तकों का रचयिता ठहरा दिया।

५–पद्माकर—इनकी मृत्यु सन् १८०३ में हुई है परन्तु खोज की दूसरी रिपोर्टो मे इनका समय सन् १८२० निश्चित किया गया है। इसी प्रकार इनका जन्मस्थान बाँदा बतलाना ठीक नहीं है। वास्तव में ये सागर मे ही पैदा हुए थे।

६–चिन्तामणि – ग्रियसन साहब का कहना है कि भूषण के भाइ चिन्तामणि नागपुर के भोंसला राजा के दरबार मे गये थे परन्तु यह ठीक नहीं है। चिन्तामणि के समय मे नागपुर मे भोंसला राजाओ का अस्तित्व ही नहीं था।

७–ताहिर और अहमद एव प्रधान और रामनाथ कवि भिन्न भिन्न कवि माने गये हैं परन्तु ऐसी बात नहीं है। ताहिर और अहमद एक ही कवि के दो नाम हैं। उसी तरह प्रधान और रामनाथ कवि एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं।

८–हरिदास—'विनोद' में ८ हरिदास ठहराये गये हैं परन्तु वे संख्या में चार ही हैं।

९—जसवन्तसिंह नाम के तीन नरेशो ने हिन्दी में रचना की है, तीनो एक ही व्यक्ति नहीं है।

१०—मिश्रबन्धुओ ने पर्वतदास नाम के दो कवि माने हैं परन्तु उनमें एक झूठा है।

११—प्रसिद्ध गग का समय निश्चित हो गया है। इसके छोटे भाई श्रीपति ने सन् १६६२ में द्रोण पर्व का अनुवाद किया था।

१२—मिश्रबन्धुओ ने कालिदास की एक पुस्तक का नाम 'वारवधू विनोद' बताया है परन्तु उसका ठीक नाम वधू-विनोद' है।

खोज की यह ग्यारहवी रिपोर्ट ऐसी ही बातो से पूर्ण है। यहाँ हमने उसकी प्राय सारी महत्त्वपूर्ण बाते थोडे मे लिख दी हैं। इसके साथ ही उसकी कुछ भूलो का भी दिग्दर्शन करा देने की ढिठाई कर डाली है और यह ढिठाई इसलिये की है कि साहित्य को लाभ हो। यदि इस रिपोर्ट की प्रति हमे अपने एक मित्र की रद्दियो मे न मिल जाती तो शायद हमें यह सब लिखने का अवसर ही न प्राप्त होता। 'सभा' अपनी ये रिपोर्टें ऐसी जगहों मे भेजती ही नहीं कि उसके इस महत्त्व के कार्य की हिन्दी मे आवश्यक चर्चा तो हो। आशा है, इस लेख से हिन्दी के प्रेमियो का ध्यान इन रिपोर्टो की उपयोगिता की ओर जायगा और वे इन्हें प्राप्त कर इनके आकलन से अपने ज्ञान की वृद्धि करने का प्रयत्न करेगे।

मार्च १९३१

३—शर्माजी का गौरव

श्री पद्मसिंह शर्मा हिन्दी की एक विशेष विभूति थे। हिन्दी के गत बीस वर्ष के जीवन मे, उसके अभ्युत्थान मे, जिन दस-पॉच व्यक्तियो ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है, उनमे शर्माजी अपने ढङ्ग के अकेले रहे है।

शर्माजी आर्यसमाज क एक विद्वान् सदस्य थे। प्रारम्भ मे उन्होंने हिन्दी को अपना जीवन-ध्येय नहीं बनाया था, तथापि उनका हृदय हिन्दी ही के लिए था। अन्त मे उन्होने उसके क्षेत्र मे पदार्पण किया और अपने अनुरूप उन्होने वहॉ समुचित पूजा भी प्राप्त की। उल्लिखित काल के भीतर जिन हिन्दी के कुछ विद्वानो का सार्वजनिक रूप से आदर-सत्कार हुआ है, उनमे शर्माजी सबसे अलग खड़े रहे हैं और लोग उनका दर्शन करते रहे है।

हिन्दी मे वे पहले-पहल 'सतसई-संहार' का संदेश लेकर आये थे। जिन दिनो 'सरस्वती' मे वह छप रहा था, पुस्तकालयो मे उसकी कापी लोगो को पढ़ने तक को न मिलती थी। जो पहले पा जाता, बिना समाप्त किये नहीं छोड़ता था। लोग बैठे मुॅह ताका करते या ऊबकर निराश हो दूसरे दिन जल्दी आने का निश्चय कर लौट जाते थे। हिन्दी मे आते ही शर्माजी ऐसे ही लोक-प्रिय हुए थे और अपनी उस लोक-प्रियता को वह अपने स्वाभाविक हिन्दी-प्रेम-द्वारा आजीवन बनाये रहे। लोग उनकी विद्वत्ता के कायल हो गये थे।

शर्माजी ने हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत अच्छी तरह पढ़ी थी। इन भाषाओ के अनेक महाकवियो का रचनाओ का मनन करके उन्होंने उनका रसास्वादन किया था। वे पुराने

समय के हिन्दी के अन्तिम विद्वान कहे जा सकते हैं परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे नूतनता के विरोधी थे या इससे उनका सम्बन्ध नहीं था। आर्यसमाज के संस्कार ने उन्हे और कुछ न बनाकर उदार बनाया था और जब पिछले दिनो उनमे हिन्दू-भाव का प्राबल्य हुआ था तब वह हिन्दुओ की तरह गगा-स्नान और कदाचित् व्रत भी करने लगे थे। शर्माजी का यह रूप साहित्यिक नहीं किन्तु सास्कृतिक था। जिन्होने उनके साहित्यिक रूप की पूजा की थी, व इस रूप को देखकर चकित तो हुए पर इसकी भी वैसे ही भक्ति-भाव से उन्होने पूजा की। यही उनके हृदय की मार्मिकता थी।

शर्माजी का साहित्यिक रूप बहुत ही मोहक है। वे अपनी वर्णन-कला से पाठक को बात-की-बात मे हाथ मे कर लेते हैं। यहाँ तक कि वह उनकी कर्कशता और ग्रामीणता की उपेक्षा कर उनके मार्मिक पाण्डित्यपूर्ण विवेचन का अनुधावन करने ही मे अपने को लीन कर देता है। वह उनकी खिचडी भाषा की भी परवा नहीं करता और उनकी भाषा की सजीवता के रस का आस्वादन करने मे लिप्त हो जाता है।

शर्माजी ने 'बिहारी' और उनकी 'सतसई' पर बहुत कुछ लिखा है, और जो कुछ लिखा है, बहुत सुन्दर लिखा है। बिहारी के अतिरिक्त उन्होने मुसलमान कवियो की रचनाओ के महत्त्व का भी हिन्दीवालो को परिचय कराया है। इसी प्रकार सस्कृत के पण्डितो का भी परिचय हिन्दीवालो को दिया है। उनके इस तरह के कुछ लेख 'पद्मपराग' मे सग्रह किए गए हैं। इनका पारायण करने से शर्माजी के प्रेमी हृदय की थोडी बहुत थाह लग जाती है। साहित्य के वे कितने मार्मिक ज्ञाता है, विद्वानों के वे कितने कद्रदां हैं, हिन्दुत्व का उनको

कितना अभिमान है, यह सब वे अपने लेखो में यथास्थान व्यक्त करने से कभी नही चूके।

शर्माजी की समालोचना ही ने उन्हें हिन्दी मे ख्याति प्रदान की है। उनके पहले भी हिन्दी मे अच्छी समालोचनाएँ हुई थीं किन्तु उनकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण यह हुआ कि उनके पहले सतसई जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की समालोचना किसी ने नही की थी। शर्माजी आलोचक के रूप मे जहाँ एक ओर मार्मिक विद्वान् थे, वहाँ वे कर्कश और शहराती चुहुल-बाज भी थे। वे भूलो का उद्घाटन अपनी पुस्तकों मे बड़े धैर्य के साथ करते हैं, और इस सिलसिले मे वे अपने पाण्डित्य का निदर्शन करते हुए भूल करनेवाले की जब अपनी भीषण चुटकियो से खूब खबर लेने लगते है, उस समय कभी कभी पाठक भूल करनेवाले के साथ सहानुभूति करने ही लग जाता है। शर्माजी अपनी ऐसी ही आलोचना के लिए प्रसिद्ध हुए हैं।

परन्तु शर्माजी की प्रसिद्धि का कारण यदि सच पूछिए तो उनका मिलनसार स्वभाव रहा है। व्यक्तिगत रूप से वे शान्त, शिष्ट और गम्भीर होने के साथ-साथ सहृदय, विनम्र और स्नेहशील भी रहे हैं। अपने इन गुणो के कारण वे जहाँ जहाँ गए हैं, समादृत ही हुए है। उनको विद्वानो से मिलने-जुलने का रोग था। इधर जब उनका हिन्दी में आना हुआ तब उनकी वह पहले की आदत और भी अधिक व्यापक रूप धारण कर गई। उनकी उस मण्डली में, जहाँ बड़े-बड़े शास्त्रियो और कवि-कोविदो को स्थान प्राप्त हुआ था, वहाँ हिन्दी के टुटपुँजिए कवि और लेखक सम्मान और आदर ही नहीं पाते थे, किन्तु साथ-ही-साथ प्रोत्साहन और आश्वासन भी। अपनी इसी लोक-संग्रह-बुद्धि की बदौलत इनका परिचित

मण्डल अनायास ही बहुत विस्तृत हो गया था और यह शर्माजी के जीवन की एक विशेष बात थी।

हिन्दी के शर्माजी ऐसे ही विद्वान्, उदार और साहित्य-रसिक श्रेष्ठ लोक-सग्राहक व्यक्ति थे।

शर्माजी प्रतिभावान् थे। इसी से उन्होने हिन्दी के विद्वत्-समाज मे गौरव-पूर्ण स्थान प्राप्त किया था। उनकी विद्वत्ता का लोहा मानकर ही हिन्दी के कर्णधारो ने उन्हे पहले प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन का और उसके बाद अखिल भारतीय साहित्य-सम्मेलन का अध्यक्ष-पद प्रदान किया था। इसके सिवा उनके बिहारी-सतसई के अपूर्ण भाष्य पर सम्मेलन ने एक हजार रुपए का मगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया था और अन्तकाल के समय 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' पर भाषण करवाकर हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने भी एक हजार का पुरस्कार उन्हें दिया था। इस प्रकार वे बराबर सम्मानित होते रहे और हिन्दीवाले उनके इस अभ्युदय पर गर्व का अनुभव करते रहे।

परन्तु एकेडेमी के उस अधिवेशन मे, जब शर्माजी का भाषण हो रहा था, तब इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अग-रेजी के एक अध्यापक महोदय ने अपने तीन-चार सहयोगियो के समक्ष उनके उस भाषण पर यह राय दी थी कि इस भाषण की कीमत उनकी निगाह मे पच्चीस रुपए से अधिक नही है। इस सम्मति का यद्यपि उस समय प्रतिवाद तो किया गया पर यह सन्देह जरूर उत्पन्न हो गया कि शर्माजी हिन्दी के महारथी की प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं या नही। इसके समाधान के लिए उनकी कृतियो की ओर ध्यान गया और समाधान नहीं हुआ, यह लिखते दुःख होता है।

शर्माजी के भक्तगण उन्हें सम्पादकजी कहा करते थे परन्तु हिन्दी-पत्रकार-कला पर उनका कभी कोई प्रभाव नही पडा। एक तो वे एक सम्प्रदाय-विशेष की परिमित सीमाओ के भीतर स्वेच्छा से या बाध्य होकर आबद्ध रहे, दूसरे उस क्षेत्र मे भी वे लगातार जमकर काम न कर सके। ऐसी दशा मे उनकी 'सम्पादक जी' की पदवी केवल 'शिष्टाचार' तक ही सीमित रह जाती है। उस रूप मे हम शर्माजी मे कोई विशेषता नही पाते, सिवा इस बात के कि वे साम्प्रदायिक जैसे रूखे विषय की चर्चा के साथ साहित्य की अपनी चुलबुली चर्चा की भी बानगी देते रहते थे परन्तु यह सब लिखना एक बात है और पत्रकारी एक बात है, और इस पिछली बात ही का शर्माजी मे पूर्ण अभाव था।

सम्पादकजी के बाद उनकी एक पदवी 'समालोचनाचार्य' की थी। यह पदवी उन्हे भावुक पत्रकारो ने प्रदान की थी। और देते क्यो न! सम्मेलन ने उनके आलोचनात्मक भाष्य पर ही अपना सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार पहले-पहल उन्हे प्रदान किया था। तब उक्त पदवी उनके उपयुक्त न होती तो फिर किसके लिए होती?

इसमे सन्देह नहीं कि शर्माजी कविता के अच्छे पारखी थे और वे समय-समय पर अपनी इस विशेषता का विशेष ढङ्ग से परिचय भी देते रहते थे। उनकी इस प्रवृत्ति के लिए उपयुक्त आदर्श पहले ही से अस्तित्व मे आ गया था। 'हिन्दी-कालिदास' लिखकर आचार्य द्विवेदी जी ने इसकी बुनियाद ही नही रख दी थी किन्तु यथावकाश उस मार्ग को वे प्रशस्त भी करते रहे। फलत 'सतसई-सहार' लिखकर शर्माजी अनायास ही सबके आगे आ गए परन्तु खेद की बात है कि वे उसके आगे नही बढ सके और यद्यपि 'नवरत्न' लिखकर

मिश्रबन्धुओं ने उनसे आगे बढ जाने का साधु प्रयत्न किया था, तथापि उनकी कृति की कदर नहीं हुई। कदाचित् वैसी आलोचना का हिन्दी मे तब युग ही नहीं आया था। अतएव 'सतसई-सहार' के यशस्वी शर्माजी, सतसई का 'भाष्य' लिखकर बाजी मार ले गए, और सो भी अधूरा भाष्य लिख कर और वह भाष्य जिस पर अब तक आलोचक दश देते रहे है। इनका परिहार न होने से उनकी भाष्य-कीर्ति मे बट्टा ही लगता रहा।

प्रारम्भ मे जब शर्माजी का सस्कृत की अपेक्षा हिन्दी पर विशेष अनुराग हुआ तब सयोगवश उनका परिचय द्विवेदीजी से हो गया, जो बाद को घनिष्ठता मे परिणत हो गया। आचार्य ने शर्माजी की कविता-सम्बन्धी सूझ-बूझ देखकर और यह जानकर कि शर्माजी उर्दू और फारसी भी जानते है, उन्हे इस बात ही का सकेत नहीं किया कि वे सस्कृत तथा हिन्दी की कविता के साथ-साथ उर्दू कविता का भी तुलनात्मक अध्ययन करे किन्तु हाली और अकबर की रचनाओ का विशेष रूप से अध्ययन करने के लिए अपने पास से उन्हे उनके 'दीवान' भी प्रदान किए। शर्माजी ने इस सत्परामर्श से पूरा लाभ उठाया परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, वे आगे बढ़कर रुक ही गए। उनकी साहित्यिक विवेचना तात्त्विक निदर्शन करने की अपेक्षा चुहुलबाजी और शोखपने ही मे अपने कर्तव्य की इतिश्री मान चुकी थी।

इन दो बातो की इस तरह मीमासा करने के उपरान्त जब उपर्युक्त अध्यापक महोदय की सम्मति पर विचार किया गया, तब उसमे सार ही दिखाई दिया। और यह अनुभव होने पर इस बात का क्षोभ ही हुआ कि हिन्दी के हमारे महारथियो की क्या ऐसी ही कृति है!

शर्माजी की लोक-सग्रह की मनोवृत्ति की ऊपर चर्चा की गई है। उन्होने हिन्दी और उर्दू दोनो भाषाओ के विद्वानो के घर-घर जाकर उनसे मेलजोल बढ़ाया था और विचारो का आदान-प्रदान किया था। जब वे स्वय उस कोटि के हो गए, तब उनका वह स्वभाव और भी विकास को प्राप्त हुआ और हिन्दी के नवयुवक साहित्यिको की भीड़ उनके इर्द-गिर्द रहने लगी। इस प्रकार उनके पक्ष मे एक ऐसा समूह तैयार हो गया, जो उनकी विशेषताओ का समय-असमय मे बराबर बखान करता रहता है। भले ही उन्होने सम्पादक के रूप मे हिन्दी की पत्रकार-कला पर अपनी अमिट छाप न डाली हो, भले ही उनकी समालोचना-शैली हिन्दी मे आदर्श शैली न मानी गई हो परन्तु उन्होने अपनी कृतियो से उस समय हिन्दी के क्षेत्र पर जो आतक जमा लिया था, वह व्यर्थ नही हुआ और आज उनके भक्त इसी कारण उनके व्यक्तित्व की पूजा कर रहे हैं। खेद की बात है कि यह मनुष्य-पूजा है, परमात्मा की नही।

जुलाई ६, १९३४

४—महात्मा गान्धी और हिन्दी

महात्मा गान्धी को इस बात की शिकायत है कि हिन्दी मे कुछ भी नही है और उसने अब तक न रवीन्द्र पैदा किया है, न बोस पैदा किया है। महात्मा जी की यह शिकायत कुछ ठीक है क्योकि हिन्दी-भाषी विद्वान् सचमुच हिन्दी की सेवा से विमुख रहते हैं। यदि उन्होने हिन्दी

को अपनाया होता तो आज महात्मा जी को यह शिकायत क्यो करनी पडती ? हिन्दी-भाषियो मे भी ऐसे लोगो की अब काफी सख्या हो गई है, जिन्हें देशी तथा विदेशी विश्वविद्यालयो की उच्च-से-उच्च डिगरियाँ प्राप्त है। यही नहीं, उनमे ऐसे भी लोगो का अभाव नही है, जो नाना प्रकार के विषयो की विशेष योग्यता न रखते हो परन्तु खेद इतना ही है कि वे हिन्दी मे लिखना पाप समझते हैं। विश्वविद्यालयो को ही लीजिये। अकेले सयुक्तप्रान्त मे ही चार बडे-बड़े विश्वविद्यालय है, जिनमें हिन्दी-भाषी अध्यापको की सख्या तीन कोड़ी से कम न होगी परन्तु इनमे से कदाचित् एक ने भी अब तक हिंदी मे लिखना उचित नहीं समझा।

यह नही है कि हमारे विश्वविद्यालयों के ये अध्यापक हिन्दी मे न लिखते हो। इनमें से कई एक हिन्दी मे बराबर लिखते रहते है परन्तु वे जो कुछ लिखते है, हिन्दी के लिये नहीं लिखते, केवल अपने लिये लिखते हैं। वे वह चीज लिखते हैं, जिससे उनका निज का भाण्डार तो भर जाता है पर हिन्दी के भाण्डार मे उसका कुछ भी नहीं पहुँचता। उनको अपनी मातृ-भाषा की उतनी परवा नहीं है। यदि ऐसा न होता तो आज लोगो को हिन्दी को दरिद्र भाषा कहने की क्या आवश्यकता थी ?

हमारे इन अध्यापको को यदि कोई महत्त्व की चीज लिखनी होती है तो ये महानुभाव उसे अँगरेजी में लिखते है। ये समझते है कि अँगरेजी मे लिखने से इनकी कीर्ति होगी और ये ससार के विद्वानो मे न सही, भारत के अग्रणी विद्वानों मे तो गिन ही लिये जायँगे। और यह हाल हमारे उन विद्वानो तक का है, जो हिन्दी मे लिख-लिखकर माला-

माल हो गये है। इन अध्यापको मे से वे विद्वान्, जो विभिन्न क्षेत्रो मे सलग्न होकर अपना जीवन सुखपूर्वक यापन कर रहे है, हिन्दी का पढ़ना तक गवारा नही करते। वे अपनी साहित्यिक अभिरुचि की तृप्ति एकमात्र अँगरेजी के द्वारा ही करते है। ऐसी दशा मे यदि कोई सज्जन हिन्दी की हीनता की बात आगे लाता है तो क्या बेजा करता है?

ऐसे दृष्टिकोण से किये गये आक्षेप का तो सभी हिन्दी-प्रेमी स्वागत कर सकते है परन्तु बात ऐसी नही है। हमारी त्रुटि बतलानेवाले महानुभाव दूसरे ही दृष्टिकोण से आक्षेप करते है और यह उनसे एक बडी हानिकर भूल होती है। वे अपने इस प्रकार के आक्षेपो से उन लेखको का उत्साह भङ्ग करते हैं, जो उसकी सेवा करने मे अपनी ओर से कुछ कोर-कसर नही करते तथा उन लेखको का अपमान करते हैं, जिन्होने हिन्दी को अपने रक्त से सींच-सींचकर इस योग्य बनाया है कि आज वह सारे भारत की राष्ट्र-भाषा मानी गई है। यह .सच है कि हिन्दी-भाषियो मे जो उच्च कोटि के विद्वान् है, उनका हिन्दी से अनुराग नही है और यदि किसी-किसी मे है तो जबानी जमा-खर्च तक ही सीमित है परन्तु इसके साथ ही यह भी सच है कि निम्न कोटि के जिन विद्वानो ने उसे अपनाया है, उन्होने कमाल का काम किया है और इसका सबसे उपयुक्त प्रमाण उनकी वे रचनाये है, जिनसे वे हिन्दी के रिक्त भाण्डार को परिपूर्ण और अलकृत कर रहे हैं। इन निम्न कोटि के विद्वानो के पास यद्यपि विश्व-विद्यालय की ऊँची डिगरियाँ नही है पर जनता के विश्व-विद्यालय ने इन्हें ऐसी डिगरियो से विभूषित किया है कि उच्च कोटि के उन विद्वानो की ऊँची डिगरियाँ धूल फाँकती हैं। तो भी यह बड़े खेद की बात है कि हिन्दी के हमारे

महारथी इस अवस्था की ओर ध्यान न देकर कभी-कभी ऐसी बातें कह बैठते हैं, जिससे यह व्यक्त होने लगता है कि उन्हें अपने घर की भी खबर नहीं है।

उन्हें जान लेना चाहिये कि डिगरीधारी न होते हुए भी हिन्दी के इन कर्त्तव्यपरायण लेखकों ने अब तक वही काम किया है, ऐसे-ही-ऐसे ग्रन्थ लिखे हैं, जो किसी भी डिगरी-धारी के उस तरह के ग्रन्थ प्रणयन करने से उसके लिये गौरव की बात हो सकती है। यहाँ हम अपने उन लेखकों का तथा उनकी रचनाओं का नामोल्लेख करके अपने इस कथन को और भी स्पष्ट कर सकते हैं परन्तु स्थानाभाव के सिवा मुख्य कारण यह भी है कि हिन्दी के सम्बन्ध में बुरी धारणा रखनेवाले हमारे वे महानुभाव उनको जानना ही नहीं चाहते। रहे हिन्दी क पाठक सो वे अपने साहित्य तथा साहित्यकारों--दोनों को अच्छी तरह जानते हैं। दयनीय हिन्दी पर दया रखनेवाले इन नरपुंगवों को यह बात भी नोट कर लेनी चाहिये कि उनकी निन्द्य हिन्दी में अब लेखकों, कहानी-लेखकों, कवियों, उपन्यासकारों, नाटककारों, इतिहास-कारों, वैज्ञानिकों के ढेर लग गये हैं। और उनमें से कतिपय लोगों की रचनायें अहिन्दी-भाषियों में भी चाव से पढ़ी जाती हैं।

परन्तु यह सब कहना भी जोखिम की बात है। हिन्दी के प्रचार-प्रेमी लेखक ऐसा लिखना क्षम्य नहीं समझते। ऐसी बातें साहस के साथ लिखनेवालों पर उन्होंने अशिष्टता और अभद्रता का लाञ्छन लगाया है और यहाँ तक कहा है कि ऐसी आलोचनाओं के होने से हिन्दी के कई चोटी के लेखकों ने हिन्दी में लिखना छोड़ दिया है और वे उससे

उदासीन हो गये हैं। यही नही, उनमे से कई एक ने दूसरे धन्धे उठा लिये है—परचून की दूकान तक खोल ली है। मानो ऐसा कहनेवालो को वे हमारे चोटी के लेखक अपना एक-एक मिनट का हाल बताते रहते हैं।

ऐसी दशा में कोई क्या कह सकता है। न उधर राह है, न इधर। उधर हिन्दी के ये कर्णधार उनकी योग्यता तथा प्रतिभा के कायल नही है, इधर वे अभद्र और अशिष्ट बताये जाते है।

परन्तु हिन्दी के युवक लेखक इन आडम्बरो और दम्भो का रहस्य पूर्ण रूप से जान गये है, अतएव वे अपने कर्त्तव्य का पालन करने से विमुख नही हो सकते। जिस ढङ्ग से उन्होने लिखना आरम्भ किया है, उससे यही प्रकट होता है कि वे निर्भयता-पूर्वक अपने मार्ग पर आरूढ रहेंगे और इमली को इमली कहने से बाज नही आयेंगे। हिन्दी के लेखको की यह मनोवृत्ति इस बात का प्रमाण है कि उनमे पुरुषार्थ का अभाव नहीं हो गया है, साथ ही उनकी मातृ-भाषा भी निस्सत्व नहीं हो गई है। और यही एक आशा की बात है। नहीं तो हिन्दी के कुछ पोपो ने उसे कही का न रक्खा होता। हिन्दी के ये पोप उसका अल्पतम ज्ञान रखते हुये उसके सर्वेसर्वा बने हुये हैं, साथ ही आये दिन उसकी अवमानना भी करते रहते है।

परन्तु हिन्दी के लेखक यह सब कुछ जान गये है। उनको इस बात का पता है कि यह सारी खुराफात इसलिये की जा रही है कि वे आजीवन हिन्दी के सर्वेसर्वा बने रहें। अब उनकी यह खुराफात अधिक समय तक नहीं चल सकेगी। उन्हें अपने स्थान से हटना होगा और अधिकारी व्यक्तियो को स्थान देना पड़ेगा। समय की भी यही माँग है।

खेद की बात है, हिंदी के सर्वेसर्वा यह सब न देखना चाहते हैं, न सुनना ही चाहते हैं। वे अपने उच्च स्थान से गर्जन-तर्जन करते हुये नवयुवक लेखको को निरुत्साहित तथा तिरस्कृत करने मे ही अपना और हिंदी दोनो का हित समझ रहे हैं। परन्तु उनकी यह धींगा-धींगी अधिक दिन तक नही चल सकेगी। गत दस वर्षो में हिन्दी बहुत आगे बढ गई है और उसके ये सर्वेसर्वा बहुत पीछे रह गये हैं। अतएव उन्हें अपनी इस परिस्थिति को भले प्रकार समझ लेना चाहिये। यदि वे समय रहते राह पर नही आ जायँगे तो बाद को उन्हें पछताना होगा।

एक बात यह भी है कि हिन्दी का गौरववर्द्धन करने-वाले उसके क्रान्तिकारी लेखक भी इस अवस्था को अधिक समय तक नही बना रहने देगे। और इस सम्बन्ध मे जो सघर्ष होगा, वह इन दोनो श्रेणियो के लोगो में से किसी के लिये भी गौरववर्द्धक न होगा। रहा महात्मा गान्धी का उक्त कथन सो तो सभी प्रान्तीय भाषाओ पर लागू हो सकता है। अतएव उनके कथन पर विचार करना बेकार है।

१६ अप्रैल, १९३५

८—साहित्यिकता का एक रूप

हिन्दी के साहित्यिक समय-समय पर बड़े विचित्र रूप दिखलाते रहते हैं परन्तु इधर सम्मेलन को लेकर उन्होंने जो अभिनव रूप दिखलाया है, वह ऐसे सभी पिछले रूपो को मात दे गया है। इसमें सन्देह नही कि इन लोगो ने

जिस प्रकार की धृष्टता या अहम्मन्यता का प्रदर्शन किया है, उससे उनके शील और सदाचार के ढोंग का भी पर्दा भले प्रकार फाश हो गया है परन्तु इस सबकी उन्हे परवा होती तो वे ऐसा स्वॉग ही क्यो भर कर लाते ? इस सम्बन्ध मे हिन्दी के अन्य लोग क्षुब्ध हो सकते है और इसका भी खयाल कर सकते है कि अपनी कोई एक जॉघ उघारने से किसे लज्जा नही आवेगी परन्तु सभी हिन्दीवाले न इतने भोले-भाले हैं, न इतना धैर्य ही रख सकते है। यह जानते हुये भी कि महात्मा जी को अन्य क्षेत्रो मे हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र की अपेक्षा कही अधिक निन्दनीय परिस्थितियो का सामना करना पडा है और उन परिस्थितियो को उठा खड़ा करने-वाले कुछ लोगो के उत्पातो से उन-उन क्षेत्रो की प्रतिष्ठा या मर्यादा को ठेस कभी नही पहुॅची है, अतएव हिन्दी के क्षेत्र की वर्तमान धींगा-धींगी ऐसी ही चलती रहने देना चाहिये, वे कदापि सङ्गत बात नही मान सकते। एक तो अब इस समय देश मे वैसी व्यवस्था तथा शान्ति नही है। दूसरे यह भी है कि उदासीनता या निरपेक्षता से हिन्दी का अहित ही होगा। अतएव जो लोग केवल साहित्यिक या साहित्यकार ही कोरे-कोरे नही है किन्तु हिन्दी का प्रचार कर उसे राष्ट्रभाषा बनाना चाहते है, वे यह सब कैसे सहन कर सकते है ? इन हुर्दंगवादियो के कलुष व्यापार को बन्द करने के लिए उन्हे आगे आना ही पडेगा।

यह हिन्दी के लिए सौभाग्य की बात है कि इस समय उसकी सर्वप्रमुख संस्था की बागडोर साल भर के लिए महात्मा गान्धी ने अपने हाथो मे लेकर हिन्दी का भी कुछ काम करने की सदिच्छा प्रकट की है। यह सभी जानते हैं कि महात्मा जी कुछ समय के लिए काग्रेस के नेतृत्व का परित्याग

कर राजनीति के क्षेत्र से अलग हो गये हैं और ग्राम-सुधार के काम में ही वे इस समय अपनी सारी शक्ति लगा देने में व्यस्त हैं। तो भी अपने अमूल्य समय का कुछ अंश साल भर तक हिन्दी के लिए देते रहने का वचन उन्होंने दिया है अतएव हिन्दी के इस अभ्युदय-काल में यह सयोग उसके लिए स्वर्ण अवसर ही माना जायगा। परन्तु महात्मा जी के इस सहयोग से लाभ उठाना तो दूर रहा, उलटा हिन्द के तीन-चार स्वयंभू नेता उन महात्मा जी की बेहुरमती करने में ही हिन्दी का या अपना हित समझ रहे हैं।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दी के कतिपय पत्र तथा पत्रिकाएँ भी उनके ऐसे लेखों को छाप रही है, जो वितण्डावाद के दूषित उदाहरण के सिवा और कुछ नहीं है। हिन्दी के इन पत्रों के सम्पादकों को यह बतलाने की जरूरत नहीं है कि महात्मा जी पर ऐसे नीचे आक्षेप, जो उन लेखों में किये गये हैं, अब तक उनके किसी विरोधी ने नहीं किये हैं। उनके रुपये माँगने की बात को 'सौदा' बताकर या उनके प्रवास-सम्बन्धी आहार-व्यवहार का उपहास कर भारत के ऐंग्लो इण्डियन पत्रों ने भी उन पर कभी आक्षेप नहीं किया है। यद्यपि उन्होंने तथा उनके जैसे दूसरे कट्टर विरोधियों ने उन पर कड़े-से-कड़े आक्षेप बराबर किये हैं तथा आज भी करते रहते हैं, तथापि उनके चन्दा माँगने की प्रणाली का या उनके खाने-पीने की सामग्री का उल्लेख कर उनके चरित्र तथा व्यवहार की दिल्लगी कभी नहीं उड़ाई है। और यदि कभी किसी ने इस प्रसङ्ग का जिक्र भी किया है तो उसने अपने सयम तथा विवेक को हाथ से नहीं जाने दिया है। परन्तु हिंदी के ये आलोचक नर-पुंगव ऐसी ही हीन कही जानेवाली बातें कह रहे हैं और

हिंदी के कतिपय पत्र उन्हें आँख बन्दकर छाप रहे है, यहाँ तक कि वे उनकी तथ्यता तथा प्रामाणिकता की भी परवा नही कर रहे है। यह कितने परिताप की बात है कि हिंदी के जो सम्पादक अभी कल तक महात्मा जी के सम्बन्ध की साधारण-से-साधारण बात को अपने पत्र मे छापकर अपने को गौरवान्वित समझा करते थे, वही आज उन्ही महात्माजी के विरुद्ध अनावश्यक और विचार-शून्य लेख छापने मे नही हिचकिचा रहे है। और इस पुनीत कार्य मे सबसे आगे वह 'भारत' तथा वह 'अभ्युदय' है, जिनके सम्पादको को अपनी-अपनी न्याय-निष्ठा का विशेष गर्व रहता है। परतु यदि इन सम्पादक-प्रवरो से कोई यह पूछे कि इन लेखो को छापकर आप लोग हिदी या उसके साहित्य का किस प्रकार हित कर रहे है तो बगले झाँकने लगेगे। निस्सदेह इन पत्र-पत्रिकाओ की यह निद्य क्रियाशीलता इस बात का भी पता देती है कि उनके सम्पादको के मस्तिष्क मे लोक-कल्याण की भावना का कितना अधिक अभाव हो गया है तथा सयम और सदाचार से वे कहाँ तक हाथ धो बैठे है।

चाहे जो हो, साहित्य-क्षेत्र की इस विभीषिका को जल्दी बंद करने का कोई उपार्य होना चाहिये, क्योकि आवश्यकता इस बात की है कि सम्मेलन के कार्य-कर्ता आगे आकर महात्मा जी के सहयोग से पूरा लाभ उठावे, जिससे हिंदी का कुछ कार्य हो। महात्मा जी ने वचन दिया है कि वे साल भर तक सम्मेलन का कार्य करेगे। ऐसी दशा मे सम्मेलन के वर्तमान कर्णधारो का यह कर्त्तव्य था कि वे महात्मा जी के परामर्श के अनुसार अपने सम्मेलन के 'शकट' को 'मोटर-कार' का रूप देने का प्रयास करते। वे अपनी कठिनाइयो का हल महात्मा जी से जान लेने के लिये एक क्षण की देरी

न करते, साथ ही उनसे ऐसे किसी कार्य-क्रम की दीक्षा ग्रहण करते, जिससे उनकी 'राष्ट्रभाषा' विशेष रूप से गौरवान्वित हो जाती। और ये सब ऐसे उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण कार्य है जिनकी व्यवस्था करना तथा उन्हे विशेष उन्नत तथा उपयोगी रूप मे परिणत कर देना महात्मा जी के लिये बाये हाथ का खेल-सा ही साबित होगा। परंतु जान पडता है कि वे भी इन दुर्धर्ष कुटिल आलोचको की धींगा-धींगी से अस्त-व्यस्त-सा हो रहे है और वे अपने कर्तव्य की ओर ध्यान नही दे रहे है। उन्हें एक क्षण की देरी न कर इन गैर जिम्मेदार व्यक्तियो को अपदस्थ कर भाग्य से आये हुए इस अमूल्य अवसर से, जितना हो सके, लाभ उठाना चाहिये। ऐसे अवसर को पाकर भी यदि सम्मेलन का कार्य व्यापक रूप धारण न कर सका तो इसका दायित्व सम्मेलन के नेताओ पर तो होगा ही, साथ ही हिदी के उन प्रेमियो पर भी पड़ेगा, जो उपर्युक्त कुचक्रो से घृणा तो करते है पर उनसे दूर रहना ही पसद करते है। उन सबकी यह मनोवृत्ति जहाँ कादरता का सूचक है, वहाँ अकर्मण्यता का भी बोधक है। और सबसे अधिक यह बात है कि हिन्दीवालो के लिए यह अवस्था अत्यन्त ही लज्जाजनक है।

इन आन्दोलनकारियो ने महात्मा जी को एक लाख की थैली नही मिलने दी। इन्होने ऐसा बावेला उठाकर खड़ा कर दिया है और सो भी ऐसे घृणित रूप मे कि उसकी चर्चा तक करने की इच्छा नही होती और बड़े क्षोभ के साथ अनायास ही यही बात मुँह से निकल जाती है कि क्या एक मछली सचमुच सारा तालाब गन्दा कर सकती है। इस बात के प्रत्यक्ष होते हुए भी जो हिन्दी प्रेमी इनकी उपेक्षा कर रहे है या इनसे उदासीन रहना चाहते हैं, वे भूल पर भूल करते जा रहे हैं। उन्हें जानना

चाहिए कि हिन्दी का कार्य क्षेत्र बहुत बडा है, इतना बड़ा कि १० ५ बड़े से बडे उसके साहित्यकार भी पथ भ्रष्ट हो जाने पर उसे गन्दा नही कर सकते। यह सचमुच बहुत बड़े सौभाग्य की बात है कि साल भर के लिए उन्हें महात्मा जी का नेतृत्व प्राप्त हो सकेगा। उनका एकमात्र यही कर्तव्य है कि अब वे इस अवसर का एक क्षण भी हाथ से न जाने दें। एक लाख का महात्मा जी का 'सौदा' तो हो ही चुका है—इन्दौरवाले न दे सकेंगे तो उनके जमानतदार श्री जमुनालाल बजाज देंगे। इसके सिवा आवश्यकता पडने पर महात्मा जी और लाख दो लाख रुपये हिन्दी के लिए माँग लेंगे। जब उन्होंने सम्मेलन का भार ग्रहण ही कर लिया है तब वे इस तरह के न मालूम कितने 'सौदे' अभी करेंगे और उनके सदा टका पर निगाह रखनेवाले ये विरोधी भी उनका बराबर विरोध करते रहेंगे। तब उन्हें तो हर हालत में आगे आना ही चाहिए। आगा-पीछा किस बात का ?

२३ अप्रैल १९३५

६—फ़िकरेबाज़ आलोचक

कुछ लोगो की धारणा है कि हिन्दी मे कुछ भी नही है। ऐसी धारणावाले महानुभाव जब हिन्दीवालो को नगण्य बताकर उनका तिरस्कार करना चाहते है तब वे उसकी फ्रेंच तथा अँगरेजी जैसी ससार की उच्चकोटि की भाषाओ से तुलना करते है। परन्तु जब यही बात किसी कारणवश स्वय हिन्दीवाले ही कहने लगते है तब हँसी आती है। हँसी इसलिए आती है कि ऐसे लोग बिच्छू का मन्त्र नही जानते पर साँप के बिल मे हाथ

डालने की कहावत को चरितार्थ करते है। इधर-उधर दस-पाँच उच्च कोटि के पाश्चात्य साहित्यकारो के तथा उनकी रचनाओ के नाम याद कर लिये और यदि हो सका तो उनमें से दो-एक के एक-आध ग्रन्थ भी बाँच गये। इससे अधिक इनका साहित्य-ज्ञान नही होता परन्तु अपने इतने ही साहित्य-ज्ञान के बल पर ये हिन्दी की और उसके प्रमुख लेखको की निन्दा करने लग जाते है और उन व्यक्तिगत निन्दाओ को आदर्श समालोचना बताने की ढिठाई भी करते है। अभी उस दिन हमे हिन्दी के एक ऐसे ही स्वयम्भू साहित्यकार का एक लेख पढने को मिल गया, जिसमे उन्होने एक साँस में कह डाला है कि हिन्दी मे एक तो कुछ है नही और जो कुछ है, वह नही-कुछ के बराबर है। दु ख की बात तो यह है कि ऐसे निन्दको की सख्या मे इधर कुछ वृद्धि हुई है। यदि इन महानुभावो मे साहित्यिकता की कुछ पुट होती तो शायद यह निन्दावाद उनको कुछ जेबा भी देता। परन्तु साहित्यिक विभूति के नाम से उनके पास जब चुटकी भर राख तक नही दिखाई देती तब उनकी ऐसी बातो पर लाचार होकर यही कहना पड़ता है कि और कुछ नहीं वे 'गगरी दाना सूद उताना' की ही मसल चरितार्थ कर रहे है। ऐसे लोग अपने से अधिक कर्त्तव्यनिष्ठ साहित्यिक विभूतिवालो को इसलिए तुच्छ कहने का साहस किया करते हैं कि तभी उनकी पूछ हो सकेगी क्योकि अभी इस देश की जनता मे ऐसे लोगो की कमी नहीं है, जो 'कौआ कान ले गया' की पुकार पर झट कौए के पीछे दौड़ पडते हैं और यह नहीं देखते कि सचमुच कौआ कान ले गया है या नहीं। यही कारण है कि ये निन्दक हिन्दी के क्षेत्र मे ऐसा निन्द्य कार्य करते हुए भी तीसमारखाँ के रूप में मान-दान पाते रहते हैं।

उपर्युक्त लेखक महानुभाव ने उदाहरण-स्वरूप कहा है कि हिन्दी मे कहने को कह सकते है कि उसमे कविता, कहानी और समालोचना जैसे विषयो की रचनाये कुछ महत्त्व रखती हैं पर यदि सच बात कही जाय तो यही कहना पड़ेगा कि उनमे भी कुछ सार नही है। उन्होने एक-दो कवियो आदि का नामोल्लेख करके कहा है कि ये अमुक-अमुक विषय मे हिन्दी मे विशेषता जरूर रखते है परन्तु इन दो-एक आदमियो से हिन्दी का कौन वैसा सिर ऊँचा होता है। हिन्दी के ये कलावत ऐसी ही बेसिर-पैर की बाते कहते रहते हैं और इस तरह हिन्दी के पाठको मे गलतफहमी फैलाकर अपना उल्लू सीधा किया करते है। ये इस बात की ओर क्षण भर के लिए भी ध्यान देना नही चाहते कि अपनी ऐसी हरकतो से ये हिन्दी का अहित ही नही कर रहे है किन्तु अधर्म भी कर रहे है।

यह जरा सोचने की बात है कि जिस हिन्दी की कविता, कहानी, उपन्यास और समालोचना आदि विषयो की उत्कृष्ट रचनाये काफी सख्या मे अस्तित्व मे ही नही आ गई है किन्तु उनका हिन्दी मे काफी प्रचार भी है और अन्य प्रान्तीय भाषाओं के ही नही, विदेशी भाषाओ के साहित्यकार भी उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते है, आज उसी हिन्दी को हमारे ये हिन्दी-प्रेमी अपने फतवो से नगण्य बताने मे जरा भी नही हिचकिचाते और यहाँ तक कहने की ढिठाई करते है कि यदि हिन्दी मे वैसे एक-दो साहित्यकार अपना अस्तित्व रखते हैं तो उनकी अँगुलियों मे गिन ली जानेवाली एक-दो की सख्या अन्य भाषाओ के वैसे साहित्यकारो की बड़ी सख्या के आगे कोई महत्त्व नही रखती। उनके इस कथन से यही ध्वनित होता है, मानो अन्य भाषाओ मे भिन्न-भिन्न विषयो के उत्कृष्ट लेखको की कोटियो में सख्या है। परन्तु ऐसा कहाँ है?

उदाहरण के लिए अँगरेजी को ही लीजिये। यदि उस भाषा के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों के नाम लेने की जरूरत पडती है तो शीर्षस्थानीय लेखको मे से केवल दो-एक प्रधान व्यक्तियों का ही नाम ले लेना काफी समझा जाता है। उस समय उनकी नामावली नही गिनाई जाती परन्तु यह देखकर कोई भी साहित्य-प्रेमी यह कहना नही शुरू कर देगा कि चूँकि अँगरेजी-साहित्य के लेखको मे जब यही दो-एक नामी सज्जन है तब उसमे क्या रक्खा है। परन्तु ऐसा तो उपर्युक्त लेखक महोदय जैसे केवल कुछ लाल-बुझक्कड लोग ही कह सकेंगे। फिर अँगरेजी या फ्रेंच जैसी भाषाओ के उच्च कोटि के आधुनिक साहित्य से हिन्दी की न तो तुलना हो सकती है और न अँगरेजी तथा उसी के समकक्ष भाषा के समान यह आज किसी की बनाई ही बनती है। परन्तु उपर्युक्त लेखक महोदय जैसे महत्त्वाकाक्षी लोग यह सब नही देखते, वे तो केवल सबको पीछे कर येन केन प्रकारेण प्रसिद्ध भर होना चाहते है। भले ही इसके लिए उन्हे अपनी मातृ-भाषा के श्रेष्ठ कलाकारो को ठुकराना और उनकी अवमानना करनी पड़े।

सबसे अधिक आश्चर्य तो इस बात का है कि इन्हे आगे ले आने का पुण्य कभी-कभी हिन्दी के नामी-नामी सम्पादक भी लूटने मे जरा भी नही हिचकिचाते। यही कारण है कि ये लोग इतना अधिक बढ-बढ़कर बोलने लगते है, मानो स्वय 'शा' और 'वेल्स' जैसे कलाकार भी इनके आगे कुछ नही है।

हिन्दी मे ऐसे विडम्बना के खेल होते देखकर कभी-कभी हिन्दी-हितैषी भी घबराकर यह सोचने लग जाते है कि हिन्दी की क्या अब ऐसी ही अवस्था होगी। जिस हिन्दी का प्रताप-सूर्य इस समय सारे भारत मे देदीप्यमान हो रहा है, क्या इनके कथनानुसार उसका ऐसा ही गया-बीता साहित्य है!

परन्तु इन हिन्दी-हितैषियो को यह बात गाँठ बाँध रखनी चाहिए कि ऐसे कथन वाग्जाल मात्र है और वे सब इसलिए किये जा रहे है कि लोग उनके करनेवालो के दम्भ मे आकर उन्हे भी हिन्दी के महारथियो मे गिन ले। आश्चर्य तो यह है कि इनका प्रचार हिन्दी के सम्पादक ही करते है और जब उनसे पूछा जाता है कि भाई, ऐसे ऊल-जलूल और एक विशेष उद्देश्य को सामने रखकर लिखे गये लेख अपने पत्रो मे क्यो छापते हो तब ये लेखन-स्वातन्त्र्य की दुहाई देते है और यह कहते है कि उनका दायित्व उन पर नहीं है। इन सम्पादको की ऐसी सूझ-बूझ के सम्बन्ध मे कुछ कहना व्यर्थ है। जब वे अपने ऐसे कार्य के औचित्य-अनौचित्य की ओर ध्यान ही नहीं देना चाहते तब यही कहना पड़ता है कि ये भी उसी श्रेणी के सम्पादक है। जिस हिन्दी की प्रगति का वर्णन प्रान्तीय सरकार की शासन-सम्बन्धी रिपोर्टो तक मे प्रशसा के साथ किया जाता है, उसी की विगर्हणा अपने पत्रो मे छापकर ये सम्पादक अपनी अनोखी साहित्यिकता तथा सुरुचि का इस तरह परिचय देते है। अतएव इसे भी इस नये युग की एक स्वर्गीय देन ही समझनी चाहिए। परन्तु सन्तोष की बात यही है कि हिन्दी के जो साहित्यकार रचनात्मक कार्य के करने मे जुटे हुए है, वे उपर्युक्त लोगो के आक्षेपो की परवा नहीं करते और न उन्होने पहले कभी की है। यही कारण है कि आज हिन्दी मे केवल कहानी, उपन्यास और कविता का ही बोलबाला नही है किन्तु उसके अन्य अग भी उत्साह के साथ सँवारे जा रहे है। इतिहास, कोष, व्याकरण, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि प्राय सभी विषयो पर लोकोपयोगी एवं पण्डितोपयोगी ग्रन्थो का प्रणयन हो चुका है। पर इन महत्त्वपूर्ण पर रूखे विषयों को हमारे ये रसिक हिन्दी-प्रेमी क्यो पढ़ने लगे? इन्हें तो इन विषयो की उत्कृष्ट

रचनाओं तथा उनके लेखकों का नाम तक न ज्ञात होगा। यह कितने परिताप की बात है कि आज यही लोग हिन्दी का नेतृत्व ग्रहण करने के लिए ऐसा दूषित प्रयत्न कर रहे हैं, यही नही, हिन्दीवालों के लिए 'हिन्दी-सेवकों' का एक अभिनव दल भी सगठित करना चाहते है। ऐसी दशा मे हिन्दी के नि स्पृह और निरभिमानी लेखको को चाहिए कि वे अपनी पुरानी आदत को छोडकर वर्तमान समय के आदर्शों के अनुसार कार्य करे। उन्हें गर्दन उठाकर देखना चाहिए कि जिस हिन्दी की साहित्य-रचना मे उन्होने अपना खून सुखाया है, उसके क्षेत्र में ये निन्दक लोग मौज ही नहीं कर रहे हैं किन्तु मौके-बे-मौके उनकी अवमानना भी करते रहते है, जिन्होने हिन्दी की साहित्य-वृद्धि मे अपनी सारी जिन्दगी लगा दी है। और ये साहित्य निन्दक ऐसे लेख-लिक्खाड़ है कि इनकी एक भी ऐसी रचना ढूँढे न मिलेगी, जो साहित्य के किसी भी अग की संख्या बढाने के काम मे लाई जा सके। इन साहित्य के विलक्षण आलोचको का नामोल्लेख करने की यहाँ इसलिए भी जरूरत नही है कि ये अभी किसी गिनती मे नही है, केवल अखबारो मे कभी-कभी ऊटपटॉग लेख लिखकर अपने अस्तित्व का परिचय दे बैठते हैं। इनमे इस प्रवृत्ति के घर कर जाने का एक कारण यह भी हुआ है कि हमारे कोई तीन-चार साहित्य-कारो मे अपना प्रोपेगडा करने की बहुत अधिक लिप्सा बढ़ गई है। उनकी इस प्रवृत्ति का प्रभाव हमारे कुछ नवयुवकों पर भी पडा है और यही दस-पॉच व्यक्ति हिन्दी के क्षेत्र मे इस समय द्वन्द्व मचाये हुए है। यद्यपि इन निन्दको का दल सख्या और क्षमता मे नगण्य है, तो भी हिन्दी की उन्नति के मार्ग मे इन लोगो के ये कारनामे बाधक जरूर हैं। इसके सिवा इनके कारण हिन्दी मे अनाचार फैल जाने का भी डर है और

हिन्दीवाले यह सब देखते और जानते हुए भी कुछ कह-सुन नहीं रहे हैं। उनके इस मौन का यह अर्थ कदापि नहीं लिया जा सकता कि वे इन लोगो के विचारों से सहमत हैं। वास्तव मे उनकी इस चुप का कारण उनका घोर आलस्य है, साथ ही उनका सकोचशील स्वभाव। तो भी उनको अब परिस्थिति की इस अवस्था की ओर ध्यान देना होगा। और न सही, उन्हें अपने लोगो को समय समय पर यह बताते रहना होगा कि उनकी हिन्दी कहाँ कैसी उन्नति कर रही है। यह काम उनके जैसे शीलवान लोगो के उपयुक्त भी होगा, अतएव उन्हे जल्दी-से-जल्दी इस काम को अपने हाथो मे लेना होगा। वास्तव मे इस कार्य का भार हिन्दी की प्रसिद्ध सस्थाओ को अपने हाथो मे लेना चाहिए था परन्तु इधर कुछ समय से उनकी भी बागडोर ऐसे ही लोगो के हाथो मे चली गई है, जो स्वय भी इन निन्दकों के मार्ग का अनुसरण करना अपना तथा हिन्दी दोनो के लिए श्रेयस्कर समझते है।

चाहे जो हो, इतना तो स्पष्ट हो गया है कि हिन्दी मे भी कम-से-कम एक ऐसा दल अस्तित्व मे आ गया है जो निन्दावादियों की असलियत को जान गया है और वह अब क्षण भर के लिए उनकी इस अनधिकार-पूर्ण कार्यवाही को नही सह सकता है। यदि ऐसा होगा तो निस्सन्देह यह हिन्दी की उन्नति का एक उत्कृष्ट प्रमाण माना जायगा।

७ मई १९३५

७—साहित्य की विभीषिका

साहित्य के सघर्ष या उसकी क्रान्ति से हमारे कुछ अग्वाडिया साहित्यिक बेतरह घबडाये हुए है। इनमे से कुछ तो पहले स्वय अभी उस दिन तक इन दोनो प्रवृत्तियो का खुल कर मजा लेते रहे है। परन्तु आज जब कुछ छोट-भइयो ने उन्हीं का रग दिखलाना शुरू किया और साहित्य के कुछ महन्तो की पोले खोल-खोलकर दिखलाना आरम्भ किया तथा साहित्य का आदर्श निर्धारित करने के लिए साहित्य की दूषित परिपाटी का तिरस्कार किया तब उनको इस तरह सघर्ष और क्रान्ति करते देखकर वे लोग डर गये। उन सबने देखा कि जो मैदान मारकर उन्होने साहित्य के क्षेत्र मे अपनी विजय का सेहरा अपने हाथो बॉध लिया था, वही अब उनके देखते ये टुटपुँजिये लोग उनके हाथो से छीने लिये जा रहे है। बस, इस विचार का मन मे आना था कि सब काम छोडकर वे हिन्दी के इन सघर्ष एव क्रान्ति के प्रेमी लेखको के पीछे पड़ गये। कडे-से-कडे लेख लिखकर उनकी बेहुरमती की गई। यही तक नही, एक-दो तो मारपीट एव नालिश-फरियाद भी करने को आमादा हो गये परन्तु उनकी यह सारी उछल-कूद अन्त मे गीदड़भभकी ही साबित हुई।

प्रसन्नता, साथ ही आश्चर्य की बात तो यह है कि इन सघर्ष और क्रान्ति के उपासक लेखको ने जो जो एतराज किये थे, उनको जनता ने ठीक माना। यहॉ तक कि प्रकारान्तर से-इन्दौर के सम्मेलन ने भी उनके सिद्धान्तो का अपने प्रस्तावो द्वारा पूर्ण रूप से समर्थन किया। अतएव अब उन तीसमारो का मुॅह ही नहीं बन्द हो गया है और वे चुप ही नहीं हो गये

हैं किन्तु उनमें से दो-एक महानुभावो ने तो उन संघर्षों और क्रान्तियो का अपने हाल के लेखो में स्वागत करने तक की उदारता दिखाई है। मघर्ष-प्रेमी तथा क्रान्तिकारी लेखको की इससे अधिक और क्या विजय हो सकती है? अब तो उन्हें खुलकर खेलना चाहिए और हिन्दी के क्षेत्र से गुरुडमशाही का एकदम उन्मूलन कर डालना चाहिए।

हिन्दी में जगह जगह लोगो ने अपने अपने अखाड़े खोल लिये हैं और अधिकारी न होते हुए भी उनके महन्त बन बैठे हैं। अपनी सरदारी का दम्भ किये बिना इनके अह को सन्तोष ही नहीं होता। फल यह हो रहा है कि इनकी निगरानी मे जो साहित्य निकल रहा है, वह देशकाल के सर्वथा विरुद्ध है। अत नवयुवक समाज अब यह नहीं चाहता कि हिन्दी के कर्णधार ऐसे लोग रहें, जो उस पद के योग्य नही है। इसका उन्होने खुलकर विरोध किया है और आज भी कर रहे है। महन्त होने की डीग हाँकनेवालो मे से कुछ तो पहले उलझ पड़े परन्तु जब देखा कि उनकी पूछ नही हो रही है तब उन्होने उस अनार्य कार्य से अपना हाथ खीच लिया और उनमे से एक महानुभाव ने स्वयं भी उन्ही का मार्ग ग्रहण कर लिया है। देखे, उनके हम बिरादर इस पर क्या कहते है।

इन बिगड़े-दिल तीसमारखॉओ का कहना है कि साहित्य के अखाडे के महन्तो की सच्ची खरी आलोचना करना पाप है और जो लोग ऐसा करेगे, उन्हें हम जड-मूल से खोदकर उखाड़कर फेक देंगे और जो लोग उनके प्रिय प्राचीन साहित्य या ब्रजभाषा के विरुद्ध कुछ कहेंगे, उन्हें कच्चा खा जायँगे। बात यह है कि उनकी वहीं तक गति है। यदि वही महत्त्वहीन ठहरा दिया जायगा और उसके स्थान में हिन्दी का मुखोज्ज्वल करनेवाला साहित्य रचा जाने और आदर पाने लगेगा तो

उनकी पूँछ कट जायगी। यही सोच-समझकर वे खड्ग-हस्त हुए परन्तु अन्त मे उन्हें मुँह की खानी पडी। यही कारण है कि आज सघर्ष और क्रान्ति का स्वागत हो रहा है। हम यह नही कहते कि उनमे सबके सब सघर्ष और क्रान्ति का स्वागत करने को तैयार हो गये हैं पर सख्या ऐसो की ही अधिक है। ऐसे हरैले कहाँ नही होते, जो कुश्ती हार जाने पर भी उठकर अपने हरानेवाले को दौड़कर फिर लड़ने के लिए न पकड लेते हो ? ऐसे लोग तो आज भी क्रान्ति' और 'सघर्ष' का अपने लेखो मे उल्लेख कर उनका व्यग्य करते ही रहते है और अब तो उन्हें अपनी कलाबाजियाँ दिखलाने का अवसर भी मिल गया है।

इन्दौर के सम्मेलन ने कह दिया है कि हिन्दी का साहित्य थर्ड क्लास का साहित्य है और हिन्दी राष्ट्रभाषा भी नही है। यही नही, हिन्दी पर दया करके उसने उसके साहित्य को समुन्नत करने के लिए अपने सरक्षण मे एक सस्था की रचना भी कर दी है, जो एक मासिक पत्र-द्वारा अन्य प्रान्तीय भाषाओ के सत्साहित्य का हिन्दी मे अनुवाद करके उसका दारिद्रय ही नही दूर कर देगी किन्तु हिन्दी के टुटपुँजिया लेखको को सुलेखक बनाने का मार्ग भी प्रशस्त करेगी। इस सस्था के एक प्रधान व्यक्ति ने यह भी घोषित किया है कि हिन्दी में हम ऐसे साहित्य का निर्माण करेगे, जिससे हिन्दी राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन होने के योग्य होगी।

इस प्रकार एक सस्था ने अपनी भूल से हिन्दी के क्षेत्र मे जिन लोगों को आगे कर दिया है, वे हिन्दीवालो के किये-कराये पर अभी तक पानी फेरते ही आये है, आज उन्हें राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय साहित्य की टट्टी की आड से अपना शिकार खेलने के लिए फिर मौका मिल गया है और वे दिन-दोपहर

लोगो की आँखो मे धूल झोकने का अपना काम फिर सावधानी से करने को तैयार हो गये है। किन्तु उनके इस अपमान-जनक व्यापार से अपने साहित्य और अपने साहित्यकारो की कीर्ति की रक्षा करने के लिए हमारे क्रान्तिकारी लेखक असावधान नही है। वे इन लाल-बुझक्कड हिन्दी के उन्नायक बनने का दम्भ करनेवालो को बता देगे कि हिन्दी के सम्बन्ध मे वे लोग जो समझ बैठे है, वह उनकी अल्पज्ञता का द्योतक है। क्योकि हिन्दीवाले केवल जानते ही नही हैं कि कौन प्रान्तीय भाषा कहाँ तक उन्नत है किन्तु उन्होने बराबर उन सबकी प्रगति से पूरा पूरा लाभ उठाया है। अतएव वे आज जो काम करने जा रहे है, वह उनके लिए कोई नई बात नही है। ऐसी दशा मे उसके लिए वे जो प्रोपेगंडा कर रहे है, उससे हिन्दी का और उसके सेवको का अपमान हो रहा है।

इसमे सन्देह नही है कि हिन्दी के लेखको मे न तो कोई बडा लोक-नेता है, न कोई वैसा धनवान् ही है। जो है, वे साधारण श्रेणी के ही लोग है। यही कारण है कि वर्तमान-काल की विद्वानो की सभाओ मे उनकी कद्र नही होती। कौन नही जानता कि आज के समाज मे रुपये की ही प्रधानता है। तब यदि हिन्दी के लेखको और उनके पालित-पोषित साहित्य की अवमानना की जाती है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नही है। अब रहे हमारे तीसमार लोग, सो ये लोग तो ऐसे अवसरो की घात मे रहते ही है। हिन्दी के दुर्भाग्य से सम्मेलन ने उन्हें मौका ही नही दे दिया है किन्तु उन्हे अपना काम करने को सुविधा भी प्रदान कर दी है। ऐसी दशा मे हिन्दीवालो को इन लोगो का दम्भ दूर करने मे कठिनाई का सामना करना पडेगा। परन्तु हमारे नवयुवक समाज के जो लोग हिन्दी के प्रेमी ही नहीं, उसके अभ्युदय के हामी ही नहीं, किन्तु जिन्हें

अपने पुरुषार्थ का भी दावा है, उनकी संख्या काफी अधिक है और उनका इस समय एकमात्र यही कर्तव्य है कि वे बद्धपरिकर होकर आगे आवें और हिन्दी को तुच्छ ठहराकर अपना उल्लू सीधा करनेवालो को इस बार ऐसा सबक पढावें कि फिर वह उन्हें आजीवन न भूलें। यही अब उनका एकमात्र कर्तव्य है।

अपना यह आवश्यक कर्तव्य-पालन करते समय यह याद रखना पडेगा कि इस बार उन्हें बडे-बड़े घाघो का सामना करना पड़ेगा। ये लोग अपने पीछे देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था की राजनीति का सहारा लेकर अपनी दम्भ-लीला दिखलाना चाहते है। ऐसी अवस्था मे हमारे युवक लेखक-समुदाय को क्या करना होगा, यह सब उन्हें पहले से ही निश्चित कर लेना होगा। यदि वे ऐसा नही करेंगे तो आनेवाले संघर्ष का मुकाबिला करने मे उन्हें भारी कठिनाई का सामना करना पडेगा।

एक बात और। इस समय देश की दशा अस्त-व्यस्त हो गई है। लोग हतोत्साह और खिन्न-मन हो रहे है। स्वतन्त्रता की पिछली लड़ाई मे भारतीय राष्ट्र की भारी हार हुई है। अतएव इस अवसर पर हमारे युवक समाज को इस अवस्था को ध्यान मे रखकर अपने प्रतिद्वन्द्वियो का सामना करना पडेगा। कहने का मतलब यह कि उन्हें समय और सदाचार को बराबर ध्यान में रखना होगा क्योंकि खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचने लगती है।

१ सितम्बर १९३५

८—हिन्दी के दैनिक

हिन्दी मे इस समय कई दैनिक पत्र निकल रहे है। इलाहाबाद से 'भारत', काशी से 'आज', कानपुर से 'प्रताप' और 'वर्तमान', कलकत्ते से 'विश्वमित्र', 'भारतमित्र' और 'लोकमान्य', दिल्ली से 'अर्जुन' और 'नवयुग', लाहौर से 'हिन्दी-मिलाप' आदि दैनिक पत्र धूमधाम के साथ प्रकाशित हो रहे है। कलकत्ते से 'राष्ट्र-बन्धु' और बम्बई से 'स्वाधीन भारत' ये दो दैनिक और निकलते थे परन्तु इधर कुछ समय से ये बन्द है। तथापि जो ये दैनिक निकल रहे है, उनमे काफी दृढ़ता आ गई है और अपने वे निर्दिष्ट ढर्रे पर बराबर चले जा रहे है।

❀ ❀ ❀

इनमे 'आज' तो अपने महत्वपूर्ण सम्पादकीय टिप्पणियो से किसी भी सुसम्पादित अँगरेजी दैनिक से मुकाबला कर सकता है। इसी प्रकार 'भारत' एक बड़े हिन्दी दैनिक के अभाव की पूर्ति कर रहा है। उसकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ तथा दूसरी पाठ्य सामग्री बहुत कुछ एक उच्च कोटि के दैनिक के उपयुक्त रहती है। परन्तु न 'भारत' ही, न 'आज' ही हिन्दी के लोकप्रिय दैनिक हो सके। इसका क्या कारण है, इसकी ओर इन पत्रों के संचालको का ध्यान आज तक नही गया। 'आज' तो एक धनकुबेर का पत्र है, जो उसके निर्दिष्ट विचारो के अनुसार ही निकलना उचित समझता है। वह काशी के पण्डितो का विरोध करना, डाक्टर भगवानदास और बाबू श्रीप्रकाश के गुण गाना तथा डटकर खरी राजनैतिक आलोचना करना ही अपना धर्म समझता है। इसके विपरीत 'भारत'

एक व्यवसायी कम्पनी का पत्र होकर भी अभी तक अपना प्रचार बढ़ा नही सका है। इसका मूल कारण उसका नरमदल का मुख-पत्र होना भी कहा जा सकता है। नही तो जैसे साधन 'भारत' को प्राप्त है, उस दशा मे तो उसे हिन्दी-भाषियो का एक लोकप्रिय पत्र हो जाना चाहिए था। परन्तु 'भारत' के संचालको को लोक-रुचि की अपेक्षा अपने दल की रुचि का अधिक ख्याल रहता है और उसी दृष्टिकोण को सामने रखकर उसमें पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत की जाती है।

कानपुर के 'वर्तमान' और 'प्रताप' दोनो दैनिको का जनता ने स्वागत किया है। इनमे 'प्रताप' काग्रेस-भक्त है और 'वर्तमान' काग्रेस-भक्त होते हुए भी हिन्दू-दृष्टिकोण की बात की कभी उपेक्षा नही करता। इसके सिवा उसका सम्पादन इस विचार से भी होता है कि उससे साधारण से भी साधारण पाठक लाभ उठा सके। उसकी भाषा और विचारो के व्यक्त करने का ढङ्ग दोनो लोकरुचि को आकृष्ट करते है। परन्तु उसमे एक यह दोष है कि वह अभी तक अपने को कानपुर के बाहर नही ले जा सका है। रहा 'प्रताप' सो वह ऊँची राजनीति की ही बाते करता है। उसे इसकी परवा नहीं कि सर्वसाधारण उसे समझ भी पाते है या नहीं और जब साहित्य की बाते करता है तब वह बाबू मैथिलीशरण गुप्त और पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को ही आगे रखना अपना कर्तव्य मानता है। स्वर्गीय विद्यार्थीजी के समय की गरीबपरवरी की उसकी प्रवृत्ति उसमे आज कहाॅ दिखाई देती है?

❀ ❀ ❀

दिल्ली के 'नवयुग' के सम्पादकीय नोटो की शैली और भाषा से तो यही प्रकट होता है कि पहले वे अॅगरेजी मे लिखे जाते है और बाद को उनका हिन्दी मे अनुवाद करके छापा जाता

है। उसकी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसके नोट जितना सरकारी अधिकारियों की जानकारी के लिए लिखे जाते हैं, उतना जनता के लिए नहीं। यही कारण है कि वह अपनी छपाई-सफाई की ओर भी ध्यान नहीं देता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके सम्पादकीय नोट ज्ञानवर्द्धक और विद्वत्तापूर्ण होते हैं और इस सम्बन्ध में वह 'आज' से जरा भी पीछे नहीं है। परन्तु उसकी अपेक्षा उसका साथी 'अर्जुन' और लाहौर का 'हिन्दी-मिलाप' अपने-अपने क्षेत्रों में अधिक लोकप्रिय हैं। इस सम्बन्ध में वे 'वर्तमान' से भी आगे हैं। इसका कारण यह है कि हिन्दू-दृष्टिकोण के साथ-साथ वे सभी सामयिक समस्याओं पर भी दृढ़ता के साथ प्रकाश डालने के लिए सदा तैयार रहते हैं। उनमें आर्यसमाजीपन की बू बेशक बहुत रहती है परन्तु इसके कारण वे घाटे में नहीं रहते, बरन उनको लाभ ही होता है। 'अर्जुन' और 'हिन्दी-मिलाप' के सम्पादकीय स्तम्भ पर कभी-कभी उनके स्वामी आकर कब्जा कर लेते हैं। यह पत्र-सम्पादकों के ही साथ अन्याय नहीं होता किन्तु पाठकों के भी साथ होता है। उन्हें यदि किसी प्रश्न पर अपने विचार प्रकट ही करना है तो वे खुशी से अपने पत्र में लिख सकते हैं परन्तु इसके लिए सम्पादक अपनी जगह उन्हें क्यों दे। ये दोनों पत्र पश्चिमी भारत में इस समय अधिक लोकप्रिय हो रहे हैं।

❀ ❀ ❀

अब रहे कलकत्ते के पत्र। इनमें 'विश्वमित्र' का अधिक प्रचार है और यद्यपि 'लोकमान्य' उसके पीछे नहीं रहना चाहता तथापि वह उसके बराबर कभी नहीं पहुँच सका है। ये दोनों दैनिक कलकत्ते के ही दैनिक हो सके हैं—बाहर जनता में इनकी वैसी पैठ नहीं हो सकी। इनके सचालकों ने

उधर ध्यान भी नहीं दिया है। उन्हें जनता की जरूरत भी कदाचित् नहीं है। वे कलकत्ते से ही अपना मतलब पूरा कर लेते हैं। यों ये दोनों पत्र भी उपयुक्त पाठ्य-सामग्री आदि प्रस्तुत करने में कभी अपने कर्तव्य से विमुख होते नहीं पाये गये हैं। अब रहा वहाँ का दैनिक 'भारत-मित्र' सो उसका किसी समय जैसा नाम था, वैसा ही अब वह बदनाम हो गया है। पिछले कई वर्षों तक हिन्दी का यह भारत-प्रसिद्ध पत्र जिस दरिद्र रूप में निकलता रहा है, उसकी वह बदनामी दूर करने में अब काफी समय लगेगा।

❀ ❀ ❀

परन्तु हिन्दी के ये सभी दैनिक जिस बँधे ढर्रे पर इस समय निकल रहे हैं, उससे उनका देशव्यापी प्रचार नहीं हो सकेगा। उनका ढर्रा यह है कि वे समाचार भेजनेवाली एजेन्सियों से या अँगरेजी समाचार-पत्रों से ताजा-ताजा समाचार लेकर छापते और मनोयोग-पूर्वक अपने विचार-पूर्ण सम्पादकीय स्तम्भ लिखते हैं। इनमें से दो-एक अपने कलेवर के अनुसार कहानी, कविता तथा हास्य-विनोद भी छापते हैं और उनका वह ढर्रा अँगरेजी पत्रों के अनुकरण पर बना है। इसी अनुकरण-दोष के कारण वे पनप नहीं पाते। वे अनुकरण तो करते हैं परन्तु इस ओर ध्यान नहीं देते कि जिनका वे अनुकरण करते हैं, उनका पाठक-समुदाय कितना सस्कृत एव शिक्षित है। हिन्दी के दैनिकों का व्यापक प्रचार न हो सकने का मुख्य कारण उनके सचालकों की यह अज्ञानता ही है और जब तक वे अपने पाठक-समुदाय की क्षमता तथा उसकी रुचि का ध्यान रखकर काम नहीं करेंगे तब तक उनके पत्रों की यही दशा बनी रहेगी।

❀ ❀ ❀

दैनिको के सम्पादक बड़ी-बडी ऊँची बातो पर जिस शैली मे अपने विचार व्यक्त करते है तथा नित्य के ताजे-ताजे समाचार जिस ढङ्ग से छापते है, उससे ज्ञात होता है कि वे इसकी परवा नही करते कि उनके पाठक-समुदाय में वह सब कुछ समझने-बूझने की कितने लोग क्षमता रखते है। इसके सिवा यह भी है कि दैनिको का कलेवर जिस सामग्री से भरा जाता है, उसमे उनको जनता की बातो का जैसा चाहिए, वैसा समावेश नही होता। बाहर की बाते तथा देश की तमाम खुराफात की बाते तो वे बड़ी तेजस्विता के साथ छापेगे परन्तु जनता की बातो का वैसा ही विवरण देने की उन्हे परवा भी नही रहती। ऐसी बात नही कि देश मे उस तरह की बाते ही नहीं है। बाते है और खूब है परन्तु वे उन्हें प्राप्त ही नहीं होती हैं और न वही उनको प्राप्त करने की उत्सुकता रखते है। और यह एक ऐसी बात है, जिसके कारण जनता उनकी ओर और भी आकृष्ट नहीं होती।

यो दैनिकवाले भले ही हिन्दी के पाठको की उनकी पत्रो-सम्बन्धी उदासीनता की निन्दा किया करे परन्तु वे उनका प्रेम तब तक कदापि नही प्राप्त कर सकते जब तक वे अँगरेजो पत्रो की नकल करने की अपनी प्रवृत्ति को नही छोड़ते। हम जानते है कि हमारी इस विचार-शैली की दैनिको के सम्पादक उपेक्षा करेगे परन्तु यह सोलहो आने सच है कि वे अपनी इस उपेक्षा से अपने पत्रो की स्थिति नहीं सुधार सकते। वह तो तभी सुधरेगी जब वे अपने पैरो पर खड़े होगे तथा यह देखकर अपने पत्र का मसाला तैयार करेगे कि वह उनके पाठक-समुदाय के काम का होगा या नहीं। खेद की बात है, हमारे दैनिको का ध्यान इस ओर नही जाता और वे उसी मार्ग का अनुसरण किये हुए हैं, जो उन्हे अपने प्रयत्न मे उपहासास्पद

बनाये हुए है। ऐसी दशा मे यह आवश्यक है कि दैनिको के सञ्चालक अधिक सजगता से काम करें। यदि उन्हें हिन्दी-दैनिको की प्रतिष्ठा को बढाना है तो उन्हें महात्मा गाधी और भारत सरकार का अनुकरण कर ग्रामो की ओर दृष्टि डालनी चाहिए। ९ अक्टूबर १९३५

७—हिन्दी के साप्ताहिक

हिन्दी में साप्ताहिको का एक समय अच्छा जोर रहा। और यद्यपि वे इस समय दैनिको और मासिकों के बीच दबे हुए सा जान पडते हैं, तथापि अपने क्षेत्र मे वे आज भी पहले की ही भाँति जमे हुए हैं। हिन्दी भाषियो में समाचार-पत्र पढने की रुचि पैदा करने का श्रेय उन्हीं को है और अखबार पढ़नेवालों का जो एक बडा भारी समूह हिन्दी-भाषियो मे आज दिखाई दे रहा है, उसमें साप्ताहिको का ही बोलबाला है। तो भी उस समूह के पाठकों की रुचि में भारी परिवर्तन हो गया है, और उनको अब वर्तमान साप्ताहिकों से पहले की तरह सन्तोष नहीं होता। दैनिकों और मासिकों की प्रचार-वृद्धि भी इस कथन का एक बड़ा प्रमाण है।

तथापि साप्ताहिकों की सख्या आज भी काफी बढ़ी-चढ़ी है। 'बगवासी,' 'श्रीवेंकटेश्वर' 'अभ्युदय,' 'आर्यमित्र,' 'प्रताप,' 'कर्मवीर,' 'जयाजी प्रताप,' 'हिन्दी-केसरी,' 'विश्वमित्र', 'सैनिक', 'भारत', 'लोकमान्य', 'पडित पत्र', 'अर्जुन', 'हिन्दी-मिलाप', 'स्वराज्य', 'नवशक्ति', 'हिन्दुस्तान', 'राजस्थान', 'योगी' आदि उनमें प्रमुख हैं। इनके सिवा 'समय', 'प्रकाश'

तथा और भी कई एक साप्ताहिक निकलते है और यदि इन सबकी नामावली यहाँ दी जाय तो सख्या बहुत बडी होगी। परन्तु यहाँ हमने उन्हीं का नाम दिया है, जो बहुत दिनो से दृढ़तापूर्वक कार्यक्षेत्र मे कार्य कर रहे हैं, या उनका, जो यद्यपि कुछ ही समय से अस्तित्व में आये हैं तथापि भविष्य अच्छा दिखाई देता है।

उपर्युक्त साप्ताहिको मे 'वगवासी' और 'श्रीवेंकटेश्वर' बहुत पुराने साप्ताहिक हैं और इनके समय के अनेक साप्ताहिक बन्द ही नही हो गये हैं किन्तु इन्होने कितने ही उत्तम उत्तम साप्ताहिको को जन्म लेते और मरते देखा है। परन्तु ये दोनों साप्ताहिक आज भी अपने पुराने ढर्रे पर ही चले जा रहे हैं। वही सनातनधर्म का समर्थन और वही हिन्दुत्व-प्रधान राष्ट्रीयतावाद। यही नहीं, रूप रेखा और छपाई सफाई भी वही, पत्र को पाठ्यसामग्री से सजाना भी पहले जैसा ही। इन दोनो पत्रो ने हिन्दी पत्र कला का युगान्तर होते देखा है परन्तु इनमे जरा भी परिवर्तन नहीं हुआ। और कदाचित् इसी कारण देहाती पाठकों मे इनकी खासी कदर भी है।

इनके बाद 'अभ्युदय', 'प्रताप', 'कर्मवीर', 'विश्वमित्र' आदि का नबर आता है। इनमें 'प्रताप' ने साप्ताहिको के लिए एक नया आदर्श उपस्थित किया, जिसका अनुसरण उससे कहीं अधिक पहले के 'अभ्युदय' को भी करना पडा। इस समय उपर्युक्त सभी पत्र 'प्रताप' के मार्ग पर ही सञ्चालित होते हैं। इन सबका पाठक समाज में बड़ा मान भी है। वास्तव मे जनता के लिये ये अधिक उपयोगी भी सिद्ध हुए हैं। इन्होंने अधिक उपयोगी सामग्री के साथ मनोरञ्जक एव ज्ञानवर्द्धक पाठ्य सामग्री के ही देने का सदा ध्यान नहीं रक्खा किन्तु उस सबको एक सुरुचि-पूर्ण ढग से सजाने की भी चाल डाली। और सबसे

अधिक महत्त्व की बात तो यह हुई कि जनता के पक्ष में आन्दोलन करना इन्होने अपना कर्तव्य समझा। और उसके लिए मौका पडने पर सकट सहने से भी ये नहीं हिचके। धार्मिक या जातीय दृष्टिकोण से इन्होने सार्वजनिक प्रश्नो पर कभी विचार नही किया। हाँ, 'अभ्युदय' का प्राय. पैर फिसलते देखा गया है परन्तु अन्य बातो मे वह अपने इन सहयोगियों के साथ दौड मे बराबर डटा रहा।

उपर्युक्त साप्ताहिको मे भारत', अर्जुन', 'हिन्दी मिलाप' तथा 'विश्वमित्र' भी अपने नाम के दैनिको के साप्ताहिक सस्करण होते है। इनमे पाठको के लिए कुछ अधिक गम्भीर सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इस सम्बन्ध मे 'अर्जुन' दूसरो की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। 'आर्यमित्र' आर्य समाज का मुखपत्र है और अपनी श्रेणी के पत्रो मे वह उत्कृष्ट भी है। 'आर्यमित्र' की तरह जैनियो के 'जैनमित्र' आदि तथा सनातनियो का 'सनातन धर्म' भी निकलता है। इस प्रकार के पत्रों का जनता मे उतना प्रचार न होते हुए भी जिनके लिये वे निकलते हैं, उनमें उनका काफी प्रचार है। ऊपर 'हिन्दी केसरी' का नाम आया है। यह साप्ताहिक न मालूम क्यो प्रकाशित होता है ? इस पत्र में अब वह बात नहीं है। पहले जब इसमें 'मराठी केसरी' के कुछ लेखो का अनुवाद छपता था तब इसका कुछ महत्त्व भी था।

इसमे सन्देह नहीं कि काग्रेस के आन्दोलन से साप्ताहिकों की प्रतिपत्ति बहुत बढ़ गई है परन्तु इसके साथ एक यह बुराई भी हुई है कि इनमें दलबन्दी का भाव बढ़ गया है। 'प्रताप', 'कर्मवीर', लोकमान्य', 'सैनिक', 'नवशक्ति' और 'योगी' एक प्रकार से कांग्रेस के पत्र हो गये हैं और वे काग्रेस की नीति के विरुद्ध कुछ भी नही छापते। इसके विपरीत 'वगवासी',

'श्री वेंकटेश्वर', 'अभ्युदय', 'पंडित पत्र', 'स्वराज्य', 'हिन्दी-मिलाप' हिन्दू-दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर सञ्चालित होते हैं। इनमें 'श्री वेङ्कटेश्वर' और 'स्वराज्य' को छोडकर शेष पत्र तो कांग्रेस का और उनके नेताओ का विरोध ही नही, उन पर आक्षेप तक करते रहते हैं। एक प्रकार से ये सम्प्रदायवादी हो गये है।

परन्तु साप्ताहिको में ये प्रमुख पत्र ऐसी फॉस में फॅस गये हैं, जिससे बच निकलना इनके लिये सम्भव नहीं है। इसका एक यह भी परिणाम हुआ है कि इनके पाठक समुदाय की गति अवरुद्ध हो गई है और उनमे जो पाठक इन दृष्टिकोणो मे से एक भी दृष्टिकोण नहीं रखते, वे बेचारे इस प्रकार के पत्रो से अपना वास्तविक उद्देश्य सिद्ध नहीं कर पाते। फिर दुनिया भी इधर बहुत कुछ बदल गई है और इन साप्ताहिको मे अभी तक केवल नीति का ही भेद हुआ है। इस बात की ओर इनके सचालको का ध्यान ही नहीं जाता कि वे अपने पत्र की रूपरेखा तथा उसकी पाठ्य सामग्री और भी अधिक आधुनिक ढग से सजाकर अपने पाठको की रुचि को परिष्कृत कर सकते हैं। ऐसा करने से इनका प्रचार बढ़ने के साथ साथ इनकी प्रतिपत्ति भी बढ़ सकती है। इनके सञ्चालक कदाचित् यह नहीं जानते कि पत्रो के पाठक केवल इनके प्राञ्जल विचार तथा सप्ताह की खबरे भर ही पढ़कर सन्तुष्ट नहीं हो रहना चाहते। उन्हे अन्य विषयो की जानकारी की आवश्यकता ही नही है किन्तु उसके लिये वे उत्कण्ठित भी रहते हैं। परन्तु उनके सम्बन्ध की बाते प्रस्तुत करने मे इनके सञ्चालक काफी से भी अधिक उपेक्षा करते हैं।

साप्ताहिकों के फलने-फूलने के लिये काफी से अधिक क्षेत्र मौजूद है परन्तु इनके सञ्चालक उसका उपयोग ही नहीं कर

पाते। इसका एकमात्र कारण उनकी अयोग्यता तथा अनुभव-हीनता है। नहीं तो आज ये देश के उपयुक्त अधिक महत्वपूर्ण तथा आकर्षक दिखाई देते। एक बात और भी है। इनमें से कई एक तो दूसरो की चीजे अपनी बताकर पाठको को भी धोखा देते रहते हैं। यह त्रुटि तो हिन्दी के दैनिको मे भी पाई जाती है परन्तु इस बात से साप्ताहिको की रक्षा नही हो सकती। चोरी से किसी का न तो घर ही भरता है, न किसी का मुँह ही उजला होता है।

उपर्युक्त पत्रो के सिवा 'हिन्दी राजस्थान', 'प्रजामित्र', 'रतलाम समाचार' आदि कुछ ऐसे साप्ताहिक भी है, जो देशी नरेशो के कलक या कीर्ति को प्रकाशित करने के लिए निकलते है। इनसे लोक हित तो होता नही पर उनका हित कदाचित् हो जाता है। ऐसे पत्र सचमुच हिन्दी पत्र कला के लिए कलक-स्वरूप ही समझे जाते हैं। हिन्दी के प्रधान साप्ताहिको मे से 'कर्मवीर' तथा 'स्वराज्य' में भी देशी राज्यो के सम्बन्ध में बहुत कुछ निकलता रहता है। और अजमेर का 'राजस्थान' तो एकमात्र देशी राज्यो की स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए निकाला ही गया है। परन्तु ये पत्र भी देशी राज्यो के लिए उतना हितकर सिद्ध नही हो रहे है। देशी राज्यो का वास्तव में अभी तक एक ही पत्र निकल सका है और वह है ग्वालियर का 'जयाजी प्रताप'। यह जयाजी प्रताप एक सुसम्पादित आदर्श साप्ताहिक है। यदि अन्य राज्यो से भी और ऐसे पत्र ही निकाले जायँ तो देशी राज्यो के विरुद्ध जो दूषित प्रचार होता रहता है, वह बहुत कुछ रुक जाय। इस सम्बन्ध में रीवा के 'प्रकाश' ने वास्तव मे अच्छा काम किया है।

एक बात और। ऊपर हमने लिखा है कि प्रधान साप्ताहिक अपनी अपनी निर्दिष्ट नीति के अनुसार सञ्चालित होते हैं।

यह उनके अभ्युदय का सूचक है। परन्तु वे अपने पाठकों का—अपने प्रचार क्षेत्र की हित कामना का कहाँ तक ध्यान रखते हैं, इसका प्रमाण कदाचित् एक भी पत्र नहीं देता। और उनके इस उपेक्षा-भाव के कारण उनकी उपोयगिता मे बट्टा लगता जा रहा है। पहले ऐसी बात नहीं थी। तब उनमे उपयोगिता को दृष्टि में रखकर पाठ्य सामग्री प्रस्तुत की जाती थी। जैसा ऊपर बतलाया गया है, अब तो उनमें मासिक पत्रिकाओ या अँगरेजी पत्रो का उड़ाया हुआ पका पकाया माल सजा दिया जाता है। यह वास्तव में सम्पादको की अकर्मण्यता का द्योतक है। और यदि उनका यही क्रम जारी रहा तो भविष्य में दैनिकों और मासिकों के आगे साप्ताहिको का कोई महत्व न रह जायगा।

१६ अक्टूबर १९३५

१०—मासिक पत्र-पत्रिकायें

हिन्दी के मासिक पत्रो ने प्रारम्भ से ही साहित्यिक सुरुचि के बढ़ाने का कार्य किया है, और आज तो उनकी बदौलत उनका वह कार्य और भी अधिक बढ़ा-चढा दिखाई दे रहा है। इस समय हिन्दी मे कई उच्चकोटि के मासिक-पत्र निकल रहे हैं। अपनी सज-धज, आकार-प्रकार तथा विषय-वैचित्र्य से वे उन्नत-से-उन्नत किसी भी प्रान्तीय भाषा के मासिक-पत्रो का सामना कर सकते हैं। 'सरस्वती', 'माधुरी', 'सुधा', 'विश्वमित्र', 'चाँद', 'विशाल भारत', 'हस', 'वीणा', 'गगा' आदि ऐसी ही पत्र-पत्रिकायें हैं, जिनका सञ्चालन बहुत ही अच्छे ढग से हो

रहा है। इन सबने अपने सतत प्रयत्न से राष्ट्र-भाषा हिन्दी का मस्तक ही नहीं ऊँचा किया है किन्तु इन्होंने भाषा और उसके साहित्य को चारुता प्रदान की है और उसे समृद्ध भी बनाया है। इस दृष्टिकोण से ये सर्वथा प्रशंसा के योग्य हैं। तथापि यह कहना ही पडेगा कि यहीं से इनके कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। साथ ही यह भी है कि परस्पर की स्पर्द्धा के कारण इनमे से कतिपय ने अब ऐसा मार्ग ग्रहण कर लिया है, जिससे इनकी सख्या की वृद्धि होने मे बडी बाधा उपस्थित हो गई है।

हिन्दी में मासिक-पत्रों की प्रारम्भ से ही प्रतिपत्ति रही है। इसमे सन्देह नहीं कि सुरुचिपूर्ण ढग से सज-धज के साथ निकलने का प्रारम्भ 'सरस्वती' से हुआ है परन्तु उसकी वह सजावट एक मर्यादा के भीतर थी। इधर जब 'माधुरी' निकली तब उसने उस मर्यादा को लात मारकर एक ऐसी राह पकड़ ली, जो आज सबके बस की बात नहीं रही। 'माधुरी' ने नये रूप मे निकलकर पत्रिकाओं को 'खिलौना' बनने का मार्ग दिखाया है। फलत अन्य समर्थ पत्रिकाओं को भी लाचार होकर उसका अनुसरण करना पडा। बे-मतलब के कई रगीन चित्रों तथा अनेक बेढगे सादे चित्रों से अपने कलेवर को सजाकर एव ऊल-जलूल स्तम्भो मे विभक्त होकर उसने बड़े आकार में निकलकर हिन्दी पत्रिकाओं के लिए जो सुरुचिपूर्ण आदर्श उपस्थित किया है, उससे साहित्य का तो कुछ भी लाभ हुआ नहीं, उल्टा पत्रिकाओं की बाढ मारी गई। बेशक 'माधुरी' के द्वारा पुराने और नये लेखक खूब प्रकाश मे आये और उनकी कार्यशीलता से साहित्य-क्षेत्र में कुछ समय तक काफी चहल-पहल रही परन्तु बाद को सारा जोश ठडा पड़ गया। यही नहीं, स्वय 'माधुरी' को भी अपनी गति-विधि का नियंत्रण

करना पड़ा और यहाँ तक नौबत पहुँच गई कि उसे आज अपने जीवित रहने की चिन्ता सताने लगी है। बड़े-बड़े आकार के उसने जो विशेषाक निकालने शुरू किये थे, वे अब कहाँ निकलते हैं! तीन-तीन तिरगे चित्र भी अब कहाँ छापे जाते हैं। निस्सन्देह उसका यह कार्य पत्रिकाओ की वृद्धि के मार्ग मे बाधक हुआ है, तो भी इतना जरूर हुआ है कि उसके इस प्रयत्न से मासिक पत्रिकाओ का कायापलट हो गया, भले ही वह साहित्यिक दृष्टिकोण से उपयोगी और उपयुक्त न माना जाय। किन्तु आज 'माधुरी' जिस ढग से निकल रही है, उसमे कोई विशेषता नही है। उसकी जैसी अन्य पत्रिकाओ की तरह वह भी एक पत्रिका है और उन्ही की तरह वह भी साहित्य की सेवा कर रही है।

'माधुरी' की प्रतिस्पर्द्धा मे 'सुधा' निकली और प्रारम्भ मे कुछ समय तक खूब अच्छी निकली परन्तु बाद को उसका रस फीका पड़ गया और अब तो वह उसके सचालक के मनोविनोद की वस्तु मे परिणत हो गई है। वे उसका प्रकाशन इस समय किस दृष्टिकोण से कर रहे है, इसका उल्लेख न करना ही ठीक होगा परन्तु कहना ही पड़ेगा कि आज 'सुधा' वह 'सुधा' नही रह गई, जो एक समय थी।

'सरस्वती', 'माधुरी', 'सुधा' और 'वीणा' का मार्ग निस्सन्देह विशुद्ध साहित्यिक रहा है। और इन्हें 'विशाल भारत' के अस्तित्व मे आ जाने से विशेष बल प्राप्त हो गया है।

'विशाल भारत' एक उच्च कोटि का पत्र है और वह वंगीय साहित्यिक भाव-धारा के प्रवाह-द्वारा उपर्युक्त पत्रिकाओ को सबल ही नहीं बना रहा है किन्तु उनके गन्तव्य मार्ग को अधिक प्रशस्त करने का भी कार्य कर रहा है। उसमे बगाली रचनाओं का अधिक अनुवाद छपने से हिन्दीवालो को एक

उक्त प्रान्तीय साहित्य का परिचय अनायास ही प्राप्त हो जाता है। 'विशाल भारत' की यही एक विशेषता है और हिन्दी के साहित्यकों के लिए वह उपयोगी सिद्ध हुई है।

प्रसन्नता की बात है कि काशी के कहानी-पत्र 'हंस' ने 'विशाल भारत' से अब एक कदम और आगे बढ़ा दिया है। उसमें गुजराती के सिवा मरहठी आदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं की सुन्दर रचनाओं का समावेश रहेगा, जो साहित्यिक दृष्टिकोण से 'विशाल भारत' की अपेक्षा अधिक महत्त्व का सिद्ध होगा। 'कहानी-पत्र' के रूप में 'हंस' खूब चला और अच्छा चला किन्तु अन्त में हार मानकर उसे बैठ जाना पड़ा। उसके सौभाग्य से या हिन्दी के सौभाग्य से उसे गुजराती के प्रसिद्ध लेखक श्री कन्हैयालाल मुंशी का हाल में पूरा सहारा प्राप्त हो गया है। और वह अब उपर्युक्त साहित्यिक विशेषता के साथ निकलने लगा है। 'विशाल भारत' और 'हंस' की समुचित सहायता पाकर अर्थात् एक ओर बंगला का और दूसरी ओर गुजराती के साथ अन्य प्रान्तीय भाषाओं के महत्त्व का परिचय पाकर हिन्दी के मासिक और भी अधिक समुन्नत होंगे और इस दृष्टिकोण से इन दोनों पत्रों का महत्त्व हिन्दीवालों को स्वीकार करना ही होगा।

'चाँद' और 'विश्वमित्र'—ये दोनों पत्र भी अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं। 'चाँद' ने हिन्दू-समाज की गन्दगी को जनता के सामने साहस के साथ बार-बार उपस्थित करने का यश या अपयश प्राप्त किया है। परन्तु किसी पत्र का एक यही तो कर्त्तव्य नहीं है कि वह समय और असमय में समाज की गन्दी बातों को ही सर्वसाधारण के सामने ढिठाई के साथ उपस्थित करता रहे। खेद की बात है, 'चाँद' ने ऐसी ही राह चलना श्रेयस्कर समझा और कदाचित् हिन्दीवालों की लोक-

कुरुचि को ताड़कर ही 'विश्वमित्र' के संचालको ने भी 'चॉद' का अनुसरण किया और उसने 'स्वदेश' की अपेक्षा योरप की गन्दी बातो को बार-बार लिखने रहकर उसे 'अन्ताराष्ट्रिय राजनीति' का पत्र बताने का ढिढोरा पीटा। हमारा यह कहना नही है कि 'चॉद' और 'विश्वमित्र' ने केवल गन्दी बातो को छोडकर और कुछ कभी लिखा ही नही है। इन दोनो पत्रो ने अन्य महत्त्व की बातो पर भी उच्च कोटि के मासिको की ही भॉति प्रकाश डाला है परन्तु गन्दी बातो को विशेषता देकर उस रुचि के पाठको का मनोरञ्जन करना उसने अपने लिए अधिक उपयोगी समझा है। तथापि इन दोनो पत्रो ने निर्भीकता और विचार-स्वातन्त्र्य का आदर्श मासिक पत्रिकाओं के लिए दृढ़ता और साहस के साथ उपस्थित किया है। इस सिलसिले में 'चॉद' को तो सरकारी कोप का भाजन तक बनना पड़ा और उसे भारी हानि तक उठानी पड़ी। 'चॉद' के साथी 'विश्वमित्र' को ऐसे झमेलो का सामना नही करना पड़ा है क्योंकि उसने देश की अपेक्षा विदेश की बातो की ही आलोचना बराबर की है। ये दोनो मासिक अपने-अपने क्षेत्र मे विशेषता रखते है, भले ही इनकी नीति से सभी लोग सहमत न हो।

हिन्दी की उपर्युक्त उच्च कोटि की पत्र-पत्रिकाओ में 'गगा' और 'वीणा' का उल्लेख करना शेष रह गया है। 'गंगा' तो हाल मे ही बन्द हो गई है परन्तु 'वीणा' अभी जीवित है और आशा है, वह चली चलेगी। 'गगा' ने अपने जीवन-काल मे यद्यपि अपने अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करने के लिए खूब बढ़-बढकर हाथ मारे परन्तु वह नही ठहर सकी और आखिर उसका अन्त हो गया। हॉ, 'वीणा' चल रही है और सुन्दर ढंग से चल रही है। उसने 'माधुरी' के आदर्श का अनुसरण करने से बराबर इनकार किया है और उसी रूपरेखा मे

निकलना अपने लिए श्रेयस्कर समझा है, जो किसी भी साहित्यिक पत्रिका के लिए ठीक माना जायगा। 'वीणा' में उच्च कोटि की पाठ्य सामग्री प्रस्तुत करने का समुचित ध्यान दिया जाता है। उसके सञ्चालकों ने उसे मध्य-भारत का 'खिलौना' बनाना उचित नहीं समझा और यह बात उसके जीवन के लिए हितकर सिद्ध हुई है।

परन्तु पत्रिका को 'खिलौना' बनाने के आदर्श को ग्रहण करके गोरखपुर के 'कल्याण' ने सभी मासिक पत्रिकाओं को मात दे दिया है। उसके नेत्र-रजक धार्मिक चित्रों ने और उसके भारी-भरकम विशेषांकों ने हिन्दी के मासिकों के सञ्चालकों के होश-हवास दुरुस्त कर दिये हैं और इस सम्बन्ध में हिन्दी के क्षेत्र मे 'कल्याण' अद्वितीय है। और तो वह एक धार्मिक पत्र है, उसका विषय भी केवल परलोकोपयोगी ही है परन्तु उसके चित्रों की मोहकता ने उसके प्रचार की पर्याप्त वृद्धि की है। 'कल्याण' की सफलता को देखकर आज मासिकों के वे सचालक भी चकित हो रहे है, जिन्होने मासिकों को 'खिलौना' बना देने के आदर्श की सृष्टि की थी।

चाहे जो हो, हिन्दी के उपर्युक्त मासिक एवं अन्य ऐसे ही दूसरे भी, जिनका स्थानाभाव के कारण हम यहाँ उल्लेख नहीं कर सके हैं, आज हिन्दी की गौरव-वृद्धि कर रहे हैं। वे सुन्दर रूप-रेखा में ही नहीं निकल रहे हैं, उनकी पाठ्य सामग्री भी तदनुसार महत्त्वपूर्ण रहती है परन्तु इस पद्धति और प्रक्रिया का युग बीत गया है। अब इस बात की आवश्यकता है कि हिन्दी के मासिक नये युग का नया सन्देश लेकर साहित्य-क्षेत्र में इस रूप में उपस्थित हो कि जनता उन्हें प्राप्त कर उनसे अधिकाधिक लाभ उठा सके। १५ नवम्बर १९३५

११—मिश्रबन्धुओं का धर्मतत्त्व

लखनऊ के मिश्रबन्धु हिन्दी के धाकड़ लेखक ही नहीं हैं, ये उसके भारी स्तम्भ और महारथी हैं। गत ३७ वर्ष से ये प्रसिद्ध बन्धु हिन्दी में धूम मचाये हुये हैं। ऐसा कोई विषय न होगा, जिसमे इन्होंने अधिकार के साथ हाथ न डाला हो और जब जब लिखा, ग्रन्थ-के ग्रन्थ ही लिख डाले। खेद की बात यही है कि कुछ विद्वानों ने इनकी रचनाओं को कभी दाद नहीं दी परन्तु इन्होने उनकी कभी रत्ती भर परवा नहीं की। इनके समर्थकों ने इनके ग्रन्थों को पाठ्य पुस्तकों में रखकर उन्हें बराबर जारी रक्खा और उनका गौरव बढाया। बडे बड़े विद्वानों की बताई हुई उनके ग्रन्थो की भूलो तक की उन्होने उपेक्षा की और आज भी कर रहे हैं। वास्तव में मिश्रबन्धु ऐसे ही प्रतापी साहित्यकार है, अन्यथा भूलो से भरी हुई पुस्तकें कहीं स्कूलो के पाठ्य क्रम में रक्खी जा सकती हैं? परन्तु यह हिन्दी है और हिन्दी मे सभी कुछ जायज है!

इसी से मिश्रबन्धुओ का भी उत्साह बढ़ता गया और वे ग्रन्थ-पर ग्रन्थ लिखते गये। और अब जब वृद्ध हो गये और पेशन भी ले ली तब उन्होने अपनी उम्र के अनुरूप धर्म के सम्बन्ध मे भी एक अनूठा ग्रन्थ लिखने का निश्चय किया, जो हाल मे ही 'धर्मतत्त्व' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

मिश्रबन्धुओ की एक बात हमें पसन्द नहीं है। वे जो कुछ लिखते हैं, बिना समझे बूझे दूसरों के सहारे अपनी इमारत खड़ी करते हैं। वे यह जानने की भी परवा नहीं करते कि वे जो कुछ लिखते हैं, वह ठीक है या नहीं। उनको ऐसा करने को न तो अवकाश है, न उनके पास साधन ही हैं। ऐसी दशा

मे वे प्राय अनर्गल लिख जाते है और उनके प्रशसकों को वह सब देखी-अनदेखी कर देनी पड़ती है।

अच्छा तो मिश्रबन्धुओ ने यह जो धमतत्त्व अपनी इस वृद्धावस्था मे लिख डाला है, वह है कैसा ? इस ग्रन्थ में उन्होने शुरू से लेकर आज तक के हिन्दू धर्म का विवरणात्मक चित्र अङ्कित किया है और उसके विकास के प्रत्येक युग का विवेचन किया है। साथ ही थोड़े में उसका इतिहास भी बता दिया है। परन्तु हिन्दी तथा हिन्दुओ के दुर्भाग्य से उनके इस ग्रन्थ में भी वैसी ही भद्दी भूले मिलती हैं, जैसी उनकी अन्य रचनाओ मे। इस ग्रन्थ की भूलों का निदर्शन करना इसलिये अति आवश्यक है कि यह एक धर्मग्रन्थ है, अन्यथा उनकी रचना के विरुद्ध कुछ लिखना न तो उतने मजे की बात है, न वह उतना लाभदायक ही सिद्ध होगा। कम-से-कम अब तक के अनुभव से तो यही प्रकट होता है। अतएव यहाँ हम उनके इस ग्रन्थ का बखिया उधेड नहीं करेंगे। केवल उनकी दो एक महत्त्वपूर्ण भ्रान्त धारणाओ पर विचार करेंगे।

मिश्रबन्धुओ ने लिखा है कि वेदो मे ३३ देवताओं की उपासना है और उनमे 'परमात्मा' का नाम नहीं है। परमात्मा का विचार उपनिषदों में किया गया है पर वे बाद को बने हैं। लेखक महानुभावों ने इस विचार को पाश्चात्यों से लेकर अपने ग्रन्थ में लिखा है। यह बात उनकी निज की खोज नहीं है परन्तु उन्होंने इसे अधिकार के साथ लिखा है, अतएव इसकी मीमांसा होनी आवश्यक है। यहाँ हम इस प्रश्न पर उतने अधिक प्रमाण देकर उनके विचार का खण्डन करना आवश्यक नहीं समझते क्योंकि उन्होंने स्वय भी अपने कथनो को प्रमाणो-द्वारा पुष्ट नहीं किया है।

तो भी हम यहाँ ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मन्त्र का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते। वह मन्त्र यह है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलस्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

अर्थात् दो पक्षी मित्रता के साथ एक वृक्ष में रहते हैं। उनमे एक स्वादुपिप्पल का भक्षण करता है और दूसरा कुछ भी भक्षण नहीं करता, केवल द्रष्टा है। इस रूपक में परमात्मा का कैसा सुन्दर निर्देश किया गया है परन्तु जो लोग वस्तु को अपनी आँखो से देखने के आदी नहीं हैं, केवल दूसरे के निर्देश पर ही उसको देखने के अभ्यस्त है, वे इस रूपक के रहस्य को कभी हृदयगम करने को तैयार नहीं होगे।

ऋग्वेद मे केवल एक यही मन्त्र नहीं है, अन्य भी कई मन्त्र हैं, जिनमे परमात्मा तत्त्व का सुन्दर ढङ्ग से निदर्शन क्रिया गया है। हिन्दूधर्म की विचारधारा तो प्रारम्भ से यही रही है कि एक का अनेक मे दर्शन करे। यही कारण है कि वेद में भिन्न भिन्न अलौकिक वस्तुओ मे परमात्म तत्त्व का अधिष्ठान कर उनके भिन्न भिन्न नामो द्वारा परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार करने का उपक्रम किया गया है परन्तु यह बड़े खेद की बात है कि इस देश के कितने ही लोग अपने पाश्चात्य विद्या के पण्डित्य के जोम मे आकर भारतीय आस्तिक विचारधारा की ही नहीं, वेद जैसे परमतत्त्व तक की अवमानना करने में ही अपनी विद्वत्ता की सार्थकता समझते हैं। हमारे मिश्रबन्धु भी वैसे ही पण्डित है और अपने इस अभिनव ग्रन्थद्वारा हिन्दू-धर्म का जो 'तत्त्व' उन्होंने निर्दिष्ट किया है, वह उनकी अज्ञता तथा अनधिकारत्व का ही परिचायक है।

वेदों को उन्होंने अपने इस भ्रान्तिमूलक ग्रन्थ में जिस रूप मे अङ्कित किया है वह सर्वथा निन्द्य है।

इस प्रकार वेदतत्त्व को पीछे ढकेलकर मिश्रबन्धुओं ने गीतातत्त्व को सर्वोपरि स्थान दिया है और कहा है कि गीतातत्त्व के अस्तित्व मे आ जाने के बाद यहाँ हिन्दूधर्म का जो नया रूप सङ्गठित हुआ, वह केवल शक, तुर्क, आभीर, सीदियन, गुजर, हूण आदि विदेशी जातियो का मिलाने के लिये अर्थात् हिन्दुओ का धर्म खिचडी धर्म है और वह विजेता आक्रमणकारियो को सन्तुष्ट करने के लिये रचा गया था। अतएव 'हूणवाद' आदि से उत्पन्न झमेले को छोड़कर हमे 'गीता' का धर्म पकडना चाहिये।

मिश्रबन्धु एक साँस मे कैसी बेतुकी बात कह गये है! अपने इस कथन से उन्होने पुराणो को और उनके आधारभूत सम्प्रदायो एव धर्मों की कैसी निन्दा का है और उन सबको त्याज्य ठहराया है! फिर इन प्रसिद्ध ग्रन्थ-प्रणेताओ ने हिन्दूधर्म को ऐसे ढङ्ग से अपने ग्रन्थ मे अकित किया है कि कही कही तो लाख चेष्टा करने पर भी उनका आशय समझ में नहीं आता। बात यह है कि वे जो कुछ लिखते है, उसमे कोई तरतीब नही रखते और न अपने कथनो का सुदृढ प्रमाणो से समर्थन ही करते हैं। उन्होने हिन्दूधर्म के कई युग निर्दिष्ट कर ऐतिहासिक क्रम से उसके विकसित रूप का स्वरूप चित्रित किया है परन्तु आदेश यह करते हैं कि 'गीतातत्त्व' हिन्दूधर्म का श्रेष्ठ रूप है और उसी को हिन्दुओ को अपनाना चाहिये। गीता के निर्माण के बाद हिन्दूधर्म का जो नया विकास हुआ, उसे वे विदेशी आक्रमणकारियों की संस्कृतियो की देन बताते है। इस तरह वे हिन्दूधर्म की विशाल इमारत ढहा देने का पुण्य लूटते हैं।

मिश्रबन्धुओ का हिन्दूधर्म का कितना भ्रान्त नान है, यह उनके इस ग्रन्थ-शिरोमणि से भले प्रकार प्रकट हो जाता है। खेद की बात है कि निर्बल हिन्दुओ की प्रिय धार्मिक भावनाओ के प्रति पाश्चात्य भावापन्न हिन्दुओ ना उल्टी ही सम्मति रही है और उसका परिचय इस धर्मतत्त्व से भले प्रकार लग जाता है।

आश्चर्य तो यह है कि ऐसी गर्हित पुस्तक के सम्बन्ध मे इस देश के अन्य विद्वान सॉस तक नहीं ले रहे है। और तो और एक हिन्दी दैनिक के प्रसिद्ध सम्पादक तक, जो धार्मिक मामलो में मुसलमानो की सी उग्रता का व्यवहार करने के हिमायती हैं, मिश्रबन्धुओ के उक्त ग्रन्थ का एक अश अपने पत्र मे उद्धृतकर आज अपने को कृतार्थ मान रहे हैं। यह धर्म की विडम्बना का कैसा घृण्य रूप है? परन्तु हिन्दुओ को आज इसकी कहॉ परवा है। वे इतना गिर गये हैं, उनका ऐसा घोर पराभव हो गया है कि वे अपने उस वेद की, जिसे वे परमात्मा का एक स्वरूप मानते हैं, अवमानना को चुपचाप बैठे देखते रहते हैं। किसी जाति की कायरता और नपुसकता का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है।

१६ जुलाई १९३६

१२—गुप्तजी की जयन्ती

श्रीमान् मैथिलीशरण गुप्तजी की स्वर्ण-जयन्ती मनाकर हिन्दीवालो ने अपनी श्रद्धा और भक्ति के अनुसार अपने कर्तव्य का खासा पालन किया है। जगह-जगह इस सम्बन्ध में सभाये की गईं, जिनमें गुप्तजी का समुचितरूप से गुणगान

किया गया और उनके दीर्घजीवी होने की सदिच्छा प्रकट की गई। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओ मे उनके सम्बन्ध मे प्रशंसात्मक लेख छापे गये और उनके चित्र प्रकाशित किये गये। यह सब जो कुछ इस अवसर पर हुआ है, उससे प्रकट होता है कि हिन्दीवालो को हिन्दी का गौरव-बोध हो चुका है, और कोई भी उन्हे ऐसे सत्कार्यो की ओर प्रवृत्त कर सकता है। जरूरत है तो सिर्फ इस बात की कि प्रवृत्त करनेवाला व्यक्ति आगे-आगे चलता रहे।

सौभाग्य से इस सत्कार्य का प्रस्ताव 'प्रताप' के सम्पादक और कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ता पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने किया था। इससे यह कार्य पूर्ण सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। हमे तो इस सम्बन्ध मे इतनी सफलता की आशा नही थी परन्तु जयन्ती वास्तव मे अनेक जगह उत्साह के साथ मनाई गई और इस सम्बन्ध मे देशी राज्यो के हिन्दी-प्रेमियो ने अँगरेजी भारत के हिन्दी-प्रेमियो की अपेक्षा कहीं अधिक उत्साह दिखाया है और इसके लिये वे लोग विशेष रूप से बधाई के पात्र है।

परन्तु इस जयन्ती की सफलता की चर्चा के साथ महत्त्व का जो यह एक प्रसग लोगो में छिड गया है कि क्या गुप्त जी ही भारतीय राष्ट्र के या उसके एक अश केवल हिन्दी-भाषी राष्ट्र के एकमात्र प्रधान राष्ट्रीय कवि हैं, अरुचिकर होते हुए भी उपेक्षणीय कदापि नही है। यह सच है कि गुप्त जी के प्रशसक तथा उनके भक्त तो उनको ऐसा ही राष्ट्रीय कवि मानते है परन्तु ऐसे लोगो की सख्या कम नही है, जो यह कहते है कि हिन्दीवालो का दायरा बहुत विस्तृत हो गया है और उसके इस विस्तार मे गुप्तजी उसके एक कोने मे ही पडे हुए दिखाई देते हैं। अब रही उनकी राष्ट्रीय या राष्ट्रीयता की

भावधारा की बात, सो वह वस्तु न तो उनकी प्रारम्भ की रचनाओं मे कभी कही ढूँढ़े मिली है, और न आज की उनकी आधुनिक रचनाओ में ही उसका कही ठिकाना लगता है। फिर इधर तो वे अब विश्वबन्धुत्व की भावधारा मे अपने को विभोर-सा होते व्यक्त करना अधिक पसन्द करते हुए दिखाई देते हैं। राम, बुद्ध, कृष्ण की भावधाराओ मे डुबकियाँ लगा-कर वे अब ईसा और उसके बाद मुहम्मद की भावधाराओ के प्रवाह मे वहना चाहते हैं। ऐसी परिस्थिति मे राष्ट्रीयता की भावधारा उन्हे कैसे रुचिकर हो सकेगी! वह तो उन्हे सकुचित और कुटिल ही प्रतीत होगी।

गुप्तजी के सबध मे उपर्युक्त प्रकार की राय रखनेवाले और कोई नहीं, हमारे वे नवयुवक साहित्य-प्रेमी है, जो पन्त के आगे प्रसाद, निराला, महादेवी जैसे कवियो तक को भी दाद देने को तैयार नहीं है। ऐसी दशा मे वे गुप्त जी को राष्ट्रीयता का एकमात्र कवि कैसे मानेगे? वे कहते फिरते है कि गुप्त जी ने ऐसी रचना ही कौन की है, जो आज साहित्य-प्रेमियो के बीच उस रूप मे गृहीत हो। कुछ लोग इस सिलसिले मे 'भारत-भारती' का नाम लेने का कभी कभी दुस्साहस कर बैठते है परन्तु यह बात मान ली गई है कि वह हाली के 'मुसद्दस' की बुरी नकल है और कवित्व मे भी उसके आगे फीकी है। और फिर उसमे राष्ट्रीयता की भावना का तो कहीं अकुर तक दिखाई नहीं देता। ऐसा दशा मे गुप्त जी को राष्ट्रीयता का कवि मानना बड़ी धृष्टता की बात है। खेद की बात है कि वही धृष्टता हिन्दी मे आज खुले बाजार की जा रही है, जिससे यह प्रकट होता है कि हिन्दीवालो में सुरुचि तथा विवेक का भी अभी तक अभाव है।

इन लोगो के इन विचारो मे जोर है और तथ्य का भी

दूसरे की। यह माँग करने की जरूरत इसलिये है कि गुप्त जी के प्रशसक और भक्त इस बात की ओर जरा भी ध्यान नहीं देते और वे अपने एलानो और प्रदर्शनियो को ही महत्त्व दे रहे हैं।

ये लोग कदाचित् यह बात जानकर भी भुला देना चाहते हैं कि हिन्दी का वह युग बीत गया जब लोग दूसरो की आँखो से देखते थे। आज लोग इतना जानकार हो गये हैं कि वे सत् और असत् का भेद जान सके। यही नही, ऐसे भी लोग अस्तित्व मे आ गये है, जो जानते ही नही, सत् और असत् के विवेचन मे निरतर लगे भी रहते है। उनकी विवेचनाओ से लोगो की साहित्यिक अभिरुचि का भी अब काफी विकास तथा परिष्कार हो चुका है। अतएव वे जानते है कि कौन साहित्यिक कितने पानी का है। ऐसी दशा मे कोई व्यक्ति आन्दोलन-द्वारा अपनी प्रतिभा या क्षमता की धाक जमाने का प्रयत्न करेगा तो उसके दावे की सचाई की जाँच-पडताल करने से लोग कैसे विमुख होगे? दु ख की बात है कि गुप्त जी जैसे शान्त और सीधे-सादे व्यक्ति को कुछ लोगो ने ऐसी स्थिति मे डाल दिया है कि आज लोग उनकी प्रतिभा और क्षमता के सम्बन्ध मे तर्क-वितर्क करने को सन्नद्ध है और गुप्त जी को वाद-विवाद का विषय बनाना चाहते हैं। परन्तु इसका परिणाम क्या होगा? वही दूसरे पर कीचड-उछाल की ही लीला होगी न? यह निस्सन्देह बहुत बुरी बात होगी और इसका उनका और उनके कवि का—दोनो का हलकापन ही प्रकट होगा। इस अवस्था मे बेहतर यही होगा कि यह अप्रिय प्रसग यही से समाप्त कर दिया जाय क्योकि ऐसा करने मे ही अधिक भलाई दिखाई पड़ती है।

२५ अगस्त १९३६

१३—साहित्य-सेवक या साहित्य-वंचक

कोइरीपुर के निवासी और प्रयाग के प्रवासी पण्डित रामनरेश त्रिपाठी किस श्रेणी के व्यक्ति हैं, इसका परिचय उन्होने 'भारत' मे भले प्रकार दे दिया है। त्रिपाठी जी को इस बात का अभिमान है कि वे ऊँची सोसायटी के आदमी है। यहाँ तक कि वे ससार-पूज्य महात्मा गान्धी तक के पार्श्ववर्ती तथा कृपा-पात्र होने का दावा करते हैं। और इस दावे का उन्होंने अपने इस लेख मे उल्लेख भी किया है। प्रसन्नता की बात है कि 'भारत' मे त्रिपाठी जी के असली रूप को देखकर उनकी सोसायटी के महानुभाव लोग भी जान गये होंगे कि उनके मित्र त्रिपाठी जी कितने सुशील और सुजन आदमी है।

त्रिपाठी जी की यह आदत है कि जब कभी वे कोई नई किताब प्रकाशित करते है तब वे उसके साथ ही उसकी प्रशसा मे प्राप्त अपने मित्र बडे-बड़े आदमियो के पत्रो को सम्मति के रूप मे छाप देते है। उनकी इस आदत से उनमे यह कामना सदा बनी रहती है कि दूसरे लोग भी उनकी पुस्तको की उसी तरह प्रशसा कर दिया करे, यहाँ तक कि उनके दोषो पर भी पर्दा डाले रहें। अभी हाल मे उन्होने रामचरितमानस का एक नया सटीक सस्करण छपवाया है। दुर्भाग्य से कलकत्ते के पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने उसकी खरी समालोचना 'विशाल भारत' में छपवा दी। बस, फिर क्या था ! त्रिपाठी जी जामे से बाहर हो गये और प्रयाग के टोडीबच्चा 'भारत' के द्वारा साहित्य-सेवा का व्याघ्रचर्म ओढकर जो भयानक गर्जन-तर्जन शुरू किया, उससे उनकी असलियत भले प्रकार प्रकट हो गई। बेचारे बूढ़े वाजपेयी

क्या जानते थे कि उनका एक ऐसे साहित्य-सेवक (?) से भी काम पड़ेगा, जो उनकी बखिया तक उधेड़कर रख देगा।

वाजपेयी जी ने अपनी उस आलोचना मे लिखा है कि त्रिपाठी जी ने 'मानस' के अपने सम्पादित सस्करण में जो पाठ दिया है, वह अनेक स्थानो में उनके नये परिवर्तनो के कारण भ्रष्ट हो गया है। इसके सिवा अनेक स्थानो मे उनकी टीका भी गलत की है। साराश यह कि उनका मानस का सस्करण पहले के ऐसे सशोधित सस्करणो से कोई विशेषता नही रखता। परन्तु त्रिपाठी जी यह सब कैसे सुन सकते थे ? और वे झट द्वन्द्व-युद्ध करने के लिए अखाड़े मे कूद पड़े। अखाड़ा भी उन्हें 'भारत' जैसे गाली-पुराण-प्रेमी निन्द्य पत्र का मिल गया। हिन्दी में इस समय अब एक यही शालीन और उदात्त पत्र दिखाई देता है, जो हिन्दी के विकट पहलवानो का सेनिमा जनता को उदारता-पूर्वक दिखलाने का भयानक गौरव रखता है।

त्रिपाठी जी ने 'भारत'-द्वारा हिन्दीवालो से डाँटकर पूछा है कि एक युग की उनकी साहित्य-सेवा का क्या यही पुरस्कार मिलेगा कि उनके 'मानस' के सस्करण की मिट्टी पलीद करने का दुस्साहस कलकत्ते का यह कतरन-बटोर सम्पादक करे। वे महात्मा जी के बगलगीर हैं, मालवीय जी के कृपापात्र हैं, बड़े-बड़े राजा-रईस और सेठ-साहूकार उनके मित्र हैं, तिस पर उनकी खुले बाजार यह बेहुरमती हो। यह कितनी कृतघ्नता है, कितनी नीचता है ! इस तरह हिन्दीवालो को डाँट-फटकार बतलाकर वे बूढ़े वाजपेयी पर टूट पड़ते हैं और उन्हें ऊट-पटाँग सम्पादक, दूसरों की जूठन पुस्तकरूप मे परोसनेवाला तथा मानस की आलोचना करने का सर्वथा अनधिकारी लेखक बताकर अपने शालीन साहित्यज्ञान की शालीनता का बहुत

भव्य परिचय दे डालते है। बेचारे वाजपेयी जी त्रिपाठी जी के बाप की उम्र के होगे। उन्होने समझा होगा कि वे त्रिपाठी जी जैसे लौंडे लेखको को अभी बहुत दिनो तक पढ़ा सकते है। लिख दिया कि 'मानस' का सस्करण निकालना तुम्हारी एक बेजा हरकत है। वे कदाचित् यह बात भूल गये थे कि यह कलियुग है और इस युग मे बेटा बाप के कान तक ऐठने की बहादुरी कर सकता है। सो त्रिपाठी जी ने वही कर दिखाया। उन्होने वाजपेयी जी की वयोवृद्धता की, उनकी दीर्घकाल-व्यापिनी हिन्दी-सेवा की तथा उनके पाण्डित्य और बहुज्ञता की अवमानना करने मे अपने सारे साहस, अपनी सारी तेजस्विता एव अपने कवित्व का परिचय दे डाला। उनके उस प्रतिवाद के पढ़ने से तो यही प्रतीत होगा कि हिन्दी के किसी बहुत बड़े साहित्यकार की किसी अज्ञात कुलशील लेखक ने दाढ़ी नोच डाली है, जिससे वे साहित्यकार महोदय अमर्ष में भरकर भटियारिनो-सा बेतरह प्रलाप कर रहे हैं। परन्तु जो लोग कलकत्ते के बुड्ढे वाजपेयी जी और कोईरीपुर के त्रिपाठी जी दोनो को अच्छी तरह जानते हैं, वे त्रिपाठी जी की प्रत्यालोचना को पढकर जरा भी क्षुब्ध न होगे। त्रिपाठी जी की जगविख्यात अहमन्यता, उनकी प्रोपेगेडाप्रियता, उनकी साहित्यि-रसिकता एव व्यापार-कुशलता किसे नही ज्ञात है? अतएव उनकी यह भीषण प्रत्यालोचना उन पर जरा भी प्रभाव नही डाल सकती। वे जानते ही हैं कि यह मिडिलची साहित्यिक कितने गहरे पानी का है और लोकनेताओ, साथ ही राजा-रईसो का यह चारण अपनी साहित्यिकता का कितना दम्भ करता रहता है।

वाजपेयी जी का वह लेख अभी अपूर्ण है। उन्हें अभी उनके 'मानस' के पाठ-सशोधन तथा उसकी टीका की भूलो के

सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहना है। परन्तु त्रिपाठी जी तो सवा लाख चतुरो में ठहरे। उन्होने सोचा होगा कि पहले से ही ऐसा विकट आक्रमण क्यों न कर दिया जाय कि वह बुड्ढा अपनी बची-खुची मर्यादा को सँभालकर मैदान से भाग खड़ा हो। यही सोचकर उन्होने अपने 'भारत' वाले लेख में उस बुड्ढे को ऐसे कशाघात जमाये है कि बेचारा सचमुच चीं बोल गया होगा। यही नहीं, त्रिपाठी जी ने बुड्ढे वाजपेयी के साथ 'विशाल भारत' के सम्पादक चतुर चौबे जी को भी खूब लथेड़ा है और पत्र के स्वामी से भी उस लेख के छापने के सम्बन्ध मे उनके विरुद्ध फरियाद ही नहीं की है किन्तु 'विशाल भारत' के बन्द हो जाने का औरतो की तरह रो-रोकर शाप तक दे डाला है। पत्र के स्वामी रामानन्द बाबू को अपने अभिशाप का विश्वास दिलाने के लिए उन्होने कहा है कि प्रयाग का 'अभ्युदय' और 'हिन्दुस्तान' इसी कारण मर गये और 'सरस्वती' भी मरते-मरते बची।

त्रिपाठी जी की इस लेख-लीला को जो भी पढ़ेगा, उसी को उन पर तरस आयेगा। तरस उसे उनकी उस बुद्धि पर आयेगा, जिसके द्वारा वे आज भी हिन्दीवालो को भकुआ और गावदी समझ रहे हैं परन्तु कौन हिन्दीवाला यह नही जानता कि त्रिपाठी जी साहित्य-सेवक की अपेक्षा साहित्य-बेचक कही अधिक रहे हैं और उनकी साहित्य-सेवा की अपेक्षा साहित्य-बेचा अधिक हुई है, जिसके फल-स्वरूप आज वे ही अपने को रईसो मे नहीं गिनते है किन्तु दूसरे भी उनको रईसों मे शुमार करते हैं। ऐसी दशा मे जब वे भटियारिनो की तरह अपने विरोधियों को कोसते हुए अपनी साहित्य-सेवा का पुरस्कार माँगने को तैयार हुए हैं तब कितने ही लोग तो उन्हें सरवरिया बाँभन समझकर उपेक्षा से उनकी सुनी-अनसुनी कर देगे पर

जो लोग उनकी योग्यता और क्षमता को जानते हैं, वे तो यही कहेंगे कि 'त्रिपाठी जी का यह ताण्डव नृत्य बेकार है, वे पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी जैसे साहित्यिक महारथी के आगे कोई हस्ती नहीं रखते और उनका इस तरह वाजपेयी जी के सम्बन्ध में लिखना एक पागल का प्रलाप ही समझा जायगा।' हम भी यही कहकर इस प्रसग को यहाँ समाप्त करते हैं।

१ सितम्बर १६३६

१४—सम्पादकों से अनुरोध

विशुद्ध साहित्य के प्रकाशको को प्रोत्साहन देना, उनकी विज्ञप्ति करना, उनके द्वारा प्रकाशित सद्ग्रन्थो का जनता को परिचय देते रहना हिन्दी के सम्पादको का एक कर्तव्य माना जा सकता है परन्तु अपने ऐसे कर्तव्य का पालन करनेवाले सम्पादक शायद हिन्दी मे नही के बराबर है। हाँ, ऐसे सम्पादको का अस्तित्व जरूर है, जो ढूँढ-ढूँढकर लेखको तथा प्रकाशको को पछाड़ते रहने मे ही अपने कर्तव्य की इति-श्री समझते है। ऐसी दशा मे यदि किसी एक प्रकाशक के सम्बन्ध मे यही लोग किसी समय एकाएक बडे-बड़े प्रशसात्मक लेख छाप बैठते है तब उनके इस काम को कोई सन्देह की दृष्टि से देखे तो इसमे क्या आश्चर्य है। उदाहरण के लिए हम यहाँ मथुरा के बाबू हरिदासजी का उल्लेख करेंगे। एक जमाना हुआ, उन्होने 'चिकित्सा-चन्द्रोदय' नाम की एक बडी भारी

पोथी प्रकाशित की थी। और जब से यह पुस्तक निकली है, न मालूम क्यो हिन्दी के कई पत्र इस पुस्तक की, साथ ही इसके प्रकाशक एव लेखक की प्रशसा करते नही थकते हैं। और यह प्रशसा भी ऐसे लोग किया करते है, जिनको आयुर्वेद-शास्त्र 'काला अक्षर भैस बराबर' ही है। ऐसा क्यो हुआ, और आज भी क्यो हो रहा है, क्या कोई इसका कारण बता सकता है? हरिदासर्जा के उस 'चन्द्रोदय' से तथा उनके 'भर्तृहरि-शतक' से ससार मे हिन्दी-साहित्य का कितना गौरव बढ गया है तथा उससे हिन्दी-साहित्य के किस भारी अभाव की पूर्ति हुई है, इसका उल्लेख हिन्दी के ये भट्ट सम्पादक करना उचित नही समझते या यह कहें कि कर ही नही सकते क्योकि उक्त दोनो ग्रन्थ विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विचार करने पर विशेष महत्त्व के नहीं ठहरते हैं। वे तो केवल उनके प्रकाशक और लेखक के अपार ज्ञान के अजीर्ण के द्योतक तक मात्र है, जिसने अतीसार का रूप धारणकर उन ग्रन्थो को अस्तित्व मे ला दिया है परन्तु हिन्दी के कतिपय छोटे-बड़े सम्पादको ने इन दोनो ग्रन्थो का खूब ढोल पीटा है और आज भी पीटते जा रहे है। ऐसा करके उन लोगो ने यह सिद्ध किया है कि वे केवल गैर जिम्मेदार ही नही है, अज्ञ भी हैं। दु ख तो यह है कि हिन्दीवाले अपने सम्पादको की यह भटैती चुपचाप पढ़ जाते है और साँस तक नही लेते। हिन्दी के सम्पादको की भीषण अधोगति का यह कितना स्पष्ट लक्षण है!

यदि हम यह देखते कि हमारे ये सम्पादक सत्साहित्य के प्रकाशको की सहायता करना, उनके प्रकाशित ग्रन्थो की प्रशसा करना अपना कर्तव्य समझते है तो आज हम उनके सम्बन्ध मे ऐसा लिखने का कदापि साहस न करते। पर ऐसा कहाँ हो रहा है? यहाँ तो हाल यह है कि कितने ही सम्पादक

समालोचनार्थ भेजी हुई पुस्तक तक डकार जाते है। रहा सत्साहित्य के प्रकाशन के लिए प्रोत्साहन देना सो उसका एक नया उदाहरण लीजिये। काशी का 'ज्ञानमण्डल' अपने जन्मकाल से अब तक बराबर उच्चकोटि का साहित्य प्रकाशित करता आ रहा है। परन्तु आज तक किसी सम्पादक ने उसके इस सत्कार्य की प्रशसा नही की है। वे उसकी प्रशसा क्यो करे? 'ज्ञानमण्डल' 'हरिदास एण्ड को०' जैसा उदार न होगा। इसके सिवा और क्या हो सकता है?

हिन्दी के सम्पादकों की उक्त अभिनव प्रवृत्ति का एक नया उदाहरण 'माधुरी' के ख्याति-प्राप्त सम्पादक पण्डित रूपनारायण पाण्डेय ने हाल मे बडे अच्छे ढग से उपस्थित किया है। उन्होंने 'माधुरी' के पिछले अङ्क मे बम्बई के प्रसिद्ध प्रकाशक श्री नाथूराम प्रेमी की अपने एक सम्पादकीय नोट मे भूरि-भूरि प्रशसा कर डाली है और उन्हें हिन्दी का 'सर्वश्रेष्ठ' प्रकाशक बता दिया है। पाण्डे जी प्रेमी जी के प्रेम से इतना अधिक अभिभूत हो गये कि उन्हे उक्त प्रशसा करते हुए इस बात की भी खबर नहीं रही कि लोग उनकी इस तरह की प्रशसा पढ़कर उन्हे क्या कहेंगे। सभी जानते हैं कि पाण्डे जी का प्रेमी जी से काफी गहरा सम्बन्ध रहा है। उनके अनुवाद किये हुए ग्रन्थो का प्रेमी जी ने प्रकाशन किया है और आश्चर्य नहीं कि उनके अनुवाद किये हुए ग्रन्थ वे आगे भी प्रकाशित करें। ऐसी दशा मे एक जिम्मेदार सम्पादक का अपने ही सम्पादित पत्र में अपने किसी समय के आश्रयदाता का इस तरह ढिढोरा पीटना कहाँ तक ठीक माना जायगा, यह एक साधारण व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है परन्तु यह एक छोटी सी बात भी पाण्डे जी नही समझना चाहते। वे प्रेमी जी के कृतज्ञता-पाश में ऐसा ही बँधे हुए हैं और आज जब उन्हें मौका मिल

गया है तब वे क्यो न उससे उऋण हो जायँ ? उनके ऐसा करने से सम्पादकीय सदाचार पर चाहे गाज गिर जाय, चाहे पाला पड जाय, उन्हें इसकी परवा नही है।

प्रेमी जी की प्रशंसा पॉड़े जी ने इस कारण की है कि उन्होंने 'सुलभ ग्रन्थमाला' नाम से एक सस्ती ग्रन्थमाला प्रकाशित की है, यद्यपि हिन्दी के लिए यह कोई नई बात नहीं है—सस्ता ग्रन्थ-प्रकाशक-मण्डल एक जमाने से अस्तित्व में है। खैर, तो भी पॉड़े जी अपने मित्र को अवसर मिलने पर प्रोत्साहन दे सकते हैं परन्तु उन्हें यह हक कहाँ से मिल गया कि उसके लिए वे हिन्दीवालो को दरिद्र और गॅवार कहकर गालियाँ दे ? पॉड़े जी का कहना है कि हिन्दीवाले अपनी दरिद्रता के कारण उच्च कोटि के अच्छे ग्रन्थ खरीद नहीं सकते और उनमे साहित्यिक अभिरुचि भी नहीं है। हम यहाँ पॉड़े जी से कहना चाहते है कि यदि ऐसा ही होता तो आज पॉड़े जी और प्रेमी जी दोनो कहीं बैठे हुए मिट्टी फॉकते होते। पहले के एक साधारण मुदर्रिस प्रेमी जी आज जो लक्षाधीश बन बैठे है, वह पाँड़े जी के इन दरिद्र और अभिरुचि-रहित हिन्दी-प्रेमियो की मूर्खता से ही तो। यही क्यो, स्वय पॉड़े जी, जो आज एक प्रसिद्ध अनुवादक कहलाते है और ७०-८० ग्रन्थो के अनुवादकर्ता हो चुके है, वे आज अपनी पहले की प्रूफ-रीडरी ही कहीं बैठे करते होते। उसी पतरी मे खायॅ और उसी मे छेद करे, इसी को कहते हैं। जिन हिन्दी-प्रेमियो की साहित्यिक अभिरुचि और टेट की मजबूती की बदौलत रूपनारायण जी पॉड़े से 'पाण्डेय जी' बना दिये गये हैं, उन्ही की इस तरह अवमानना करना एक प्रकार की कृतघ्नता ही कही जायगी। वे काफी प्रौढ़ हो गये है, उन्हें अपनी इस उम्र में इस तरह ढिठाई दिखलाना उनके जैसे व्यक्ति के लिए शोभा-

जनक नहीं है। आशा है, पाण्डेय जी भविष्य के लिए सावधान हो जायँगे।

खैर, हिन्दी के पत्र-सम्पादकों की यह प्रवृत्ति हिन्दी-पत्रों की उन्नति मे बड़ी बाधा डाल रही है। शिक्षित वर्ग उनकी ऐसी ही करतूतों के कारण आज हिन्दी के पत्रो तथा उनके सम्पादको की सम्मतियो का तिरस्कार और उपहास करता रहता है। वे समझते है कि हिन्दी के पत्र-सम्पादको को कोई नीति ही नही होती और वे भटैती करना अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं। उनकी इस धारणा के अस्तित्व मे आने का मुख्य कारण हमारे ये पॉड़े जैसे सम्पादक लोग ही है, जो अपने मरपरस्तो और आकाओ की अनावश्यक प्रशसा करके दूसरे स्वाभिमानी सम्पादको के सारे किये-कराये पर पानी फेरते रहते हैं। वास्तव मे यह किसी भी सम्पादक के लिए बड़ी भारी लज्जा की बात है कि वह सार्वजनिक बात का चोगा पहनाकर अपनी खानगी बातो को सर्वसाधारण के सामने लाकर रखता है। उसे यह जान लेना चाहिए कि उसकी तरह हिन्दी की दुनिया अब मूर्ख नही रही। वह भले प्रकार यह बात जान जाती है कि कौन सम्पादक कौन बात किस मतलब से लिख रहा है। ऐसी दशा मे हमारा यहाॅ पॉडे जी जैसे सम्पादक बन्धुओ से साग्रह अनुरोध है कि वे हिन्दी के पत्रो की मर्यादा भङ्ग करने के काम से विरत रहे क्योकि उससे उनका चाहे भले थोड़ा-बहुत हित होता हो पर उनकी इन तुच्छ हरकतो से हिन्दी-पत्रो की कही अधिक हित-हानि होती है तथा उनकी मर्यादा में बट्टा लगता है।

१५ सितम्बर १९३६

१८—हिन्दी मे धींगा-धींगी

मनुष्य जहाँ क्षुद्र प्राणी है, वहाँ वह महान् भी है। क्षुद्रता और महत्ता ये उसकी दो वास्तविक विशेषताये है। इन्हीं दोनों की परिसीमा मे वह अपने जीवन का ताना-बाना फैलाये हुए है और निन्दा तथा प्रशसा का अधिकारी बनता है। क्षुद्रता से वह निन्द्य ठहरता है और महत्ता से प्रशंसनीय। और यह विभेद वह अपनी स्वार्थभावना की प्रेरणा से करता है। ससार की ऐसी ही विचित्र विभीषिका है। जिस मानदण्ड से यह तुलना होती है, वह भी अपने ढङ्ग की निराली वस्तु है। तो भी मनुष्य अपनी परिमित क्षमता के कारण उसका उपयोग करने को बाध्य है। ऐसी दशा मे जब हम किसी विषय की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं तब हमे अपनी उसी परिमित क्षमता का ही आश्रय लेना पड़ता है। तथापि लोग दम्भ मे आकर अपने को इस तरह प्रकट करने के अभ्यासी हो गये है कि लोग उन्हें सर्वशक्तिसम्पन्न ही नहीं सर्वज्ञ भी समझने लग जाते है। और यह एक ऐसी विषमता है, जिसके कारण ससार मे अशान्ति की विभीषिका का दौर-दौरा हो जाता है, जिससे लोगो को अहर्निश तरह-तरह के सकटो का सामना करने को लाचार होना पड़ता है। इस अवस्था का एक अच्छा उदाहरण हिन्दी के वर्तमान साहित्यकार हैं।

हिन्दी का एक दिन था, जब उसके प्रेमी तो थोड़े ही थे पर थे सभी अपनी धुन के पक्के, दाम की अपेक्षा उनका काम से ज्यादा मतलब रहता था। यदि किसी की प्रशंसा करते थे तो दिल खोलकर और निन्दा करते तो कुछ कोताही न रखते

थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि उन्होंने हिन्दी की नींव अपना खून गारकर रक्खी थी। हरिश्चन्द्र के जमाने की ओर निगाह डालिये। आपको हिन्दी-सेवको का एक बडा भारी दल दिखाई देगा। इन लोगो ने अपने ढग से ऐसे साहित्य की रचना की है, जो आज भी अपनी श्रेणी का लामानी है। इसी से भारतेन्दु, प्रतापनारायण, बालकृष्ण, श्रीधर पाठक आदि अपनी-अपनी जगह पर अडिग बैठे है।

पर आज हमारा क्या हाल है ? हमारे अपने समय के साहित्यकार कहाँ क्या कर रहे है, क्या इसकी भी हम कुछ खबर रखते है ? हमारे बीच मे पहले के लेखक तो मौजूद ही है, नये भी बहुत से उठ खड़े हुए है। पर क्या कोई उन्हें जानता है ? अभी उस दिन हिन्दी के एक पण्डित ने इनमे से एक के स्वर्गवासी हो जाने की खबर उड़ा दी थी, हालॉकि वे राजी-खुशी और जिन्दा हैं। हमारे इस सम्बन्ध के ज्ञान का ऐसा ही हाल है। लाला सीताराम, गोपालराम गहमरी अमृतलाल चक्रवर्ती, जगन्नाथप्रसाद भानु आदि हिन्दी-सेवको को शायद ही कोई जानता हो। जाने भी कैसे ? हिन्दी-साहित्य के इतिहास ग्रन्थो के लेखको मे धड़ेबन्दी जो है। वे अपनी-अपनी टोली के लोगो मे से किसी को कवि तो किसी को नाटककार जैसा कुछ निर्दिष्टकर वर्तमान समय के अध्याय को पूरा कर देते है।

यहाँ तक भी ठीक था लेकिन इतना ही नही है। इस समय हिन्दी मे उसका साहित्य रोजी-धन्धे का रूप धारण कर रहा है। दु:ख की बात है कि कुछ साहित्यिक यह देखकर उस पर बुरी तरह टूट पड़े है और उससे अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहते है। इसका परिणाम यह हुआ है कि लोग साहित्य की रचना से विमुख हो रहे है और प० रामनरेश

त्रिपाठी के 'कतरन-बटोर' शब्द को चरितार्थ करने मे लग गये है। तिस पर मजा यह कि वे उन्हीं कतरनबटोरवाली अपनी कृतियो की बदौलत उच्चकोटि के साहित्यकार की पूजा प्राप्त करने का दावा करते है। इनकी देखा-देखी हमारे वे साहित्यकार, जिनकी गिनती उच्च श्रेणी में की जाती है, अपना धीरज छोड़ बैठे हैं। उनमे अभिनन्दन-ग्रन्थ प्राप्त करने तथा जयन्तियाँ मनवाने का शौक चर्रा उठा है। कोई-कोई तो अपनी टेंट खाली कर अपने चरित तथा अपनी रचनाओ की प्रशसात्मक आलोचनाये लिखवाने के लिए अधीर हो रहे है। और अब तो इन लोगो मे कुछ लोगो ने एक और उपाय काम मे लाना शुरू कर दिया है। वे देश के श्रेष्ठ नेताओ के प्रशसा-पत्र प्राप्तकर और उन्हें छपवाकर हिन्दीवालो पर अपना सिक्का जमाने का प्रयत्न करने मे कुछ उठा नहीं रखते। और यह सब कुछ ये सब यह समझकर कर रहे हैं मानो हिन्दीवाले इन बातो को जानते ही न हो। वे हिन्दीवालो को निरा बुद्धू समझ बैठे है परन्तु वे भ्रान्ति मे पड गये है और उन्हें इस बात का पता नहीं है कि हिन्दीवाले उनके इन कामो और कार्रवाइयो को देखते-देखते ऊब उठे है और उनमे विरोध का भाव पैदा हो गया है। यही कारण है कि मौका आने पर वे बिना किसी का कोई लिहाज किये हुए सच्ची बात कह डालने मे जरा भी सकोच नही करते।

पर इसकी परवा इन लोगो को कहाँ है ? इन्होंने तो अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए धडेबन्दियाँ कायम कर ली हैं। आज एक धडे के लोग दूसरे धडे के लोगो को नीचा दिखाने को रात-दिन कमर कसे तैयार रहते है। इनकी इस प्रवृत्ति ने तो अब और अनोखा रूप धारण कर लिया है। प्रसाद, निराला और पन्त ये तीन इस समय के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते है

पर इनकी रचनाओं की कमाई खानेवाले लोग धडेबन्दी बनाये एक-दूसरे की निन्दा करवाने मे रात-दिन जुटे रहते हैं। यह तमाशा देखकर इनसे 'सीनियर' कवि—हरिऔध, मैथिलीशरण अपनी-अपनी फिक्र मे लग गये हैं और उनके पक्ष के लोग अपने-अपने अखाडे अलग खोल बैठे हैं। इस तरह एक कविता के क्षेत्र मे इस समय चौमुखी लडाई छिडी हुई है। यह सब क्या हो रहा है? यह सब क्या हिन्दी की उन्नति के लिए ही हो रहा है? हिन्दी के क्षेत्र में क्या बीस वर्ष पहले यह सब था? जिस किसी का भी ध्यान इस ओर जायगा, वही यह कहेगा कि हिन्दीवालो की यह प्रवृत्ति ठीक नही है। और इस समय हिन्दी मे यही सब हो रहा है। अगर कोई कुछ कहता है तो उल्टा उसी पर मार पड़ती है।

हिन्दी बहुत कुछ उन्नति कर गई है, और आज भी उन्नति ही करती जा रही है। जो लेखक हैं, वे अपने काम में चुपचाप लगे हुए है और उत्साह के साथ लगे हुए है। प्रसाद, निराला, पन्त, प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल सभी रचना-कार्य मे बराबर जुटे हुए है। कुछ अज्ञ लोग उनके सम्बन्ध मे जो तूफान-बदतमीजो उठाये रहते है, इसकी उन्हें कुछ भी परवा नही है पर दूसरे लोग उसको तरह तो नही दे सकते। उनके चो-चो मचाये रहने से वास्तविक साहित्य की बात साधारण पाठको की दृष्टि से ओझल हो जाती है। इसलिए इसकी सख्त जरूरत है कि इन लोगो का असली रूप साधारण लोगो को बताया जाय ताकि लोग इनसे सावधान रहे।

२२ सितम्बर १९३६

१६—अभिनन्दन का तमाशा

इस समय हिन्दी मे अभिनन्दन ग्रथ प्रदान करने का बाजार खूब गर्म है। पिछले दिनों कई व्यक्तियों को उक्त ग्रथ भेट करने की खूब चर्चा रही, जिनमे दो एक महानुभाव इतने भाग्यशाली निकले कि पा भी गये। इनके आयोजनो का शोर गुल सुनकर दूसरे प्रान्तवाले समझते होगे कि हिन्दी मे असाधारण योग्यता और प्रतिभा के साहित्यकारो के ठट्ठ के ठट्ठ लगे हुए है। यदि ऐसा समझा जाता हो तो इसमे आश्चय करने की भी कोई बात नहीं है। आखिर हिन्दी भाषी है भी तो करोड़ो की सख्या मे। यदि उनमें १०-१२ व्यक्ति ऐसे अभिनन्दन के अधिकारी समझे जायॅ तो यह सर्वथा उचित ही होगा। अस्तु।

सबसे पहले बाबू शिवपूजनसहाय ने ही हिन्दी में 'अभिनन्दन-ग्रथ' भेट करने की बात उठाई थी। उन्ही ने इस बात का प्रस्ताव किया था कि पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी को काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेटकर उनकी बहु-कालव्यापी साहित्य-सेवा के लिये उनका अभिनन्दन करे। उस समय तक भारत मे पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर को ही ऐसे अभिनन्दन-ग्रन्थ भेट कियें गये थे। द्विवेदी जी के सौभाग्य या दुर्भाग्य से उन दिनो काशी की सभा के प्रधानमन्त्री राय कृष्णदास जी थे। द्विवेदी जी के अनन्य भक्त होने के कारण उन्होंने उक्त प्रस्ताव को सभा की कार्यकारिणी सभा मे पास करवाकर अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रदान करने की घोषणा कर दी।

परन्तु सभा के कुछ सदस्य इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे तथापि उन्होंने प्रकट रूप से उसका विरोध नहीं किया क्योंकि हिन्दी

के कतिपय पत्रो ने उस प्रस्ताव का जोरो से समर्थन किया था। अतएव जब उक्त ग्रथ छपकर तैयार हो गया तब सभा के कुछ कार्यकर्ताओ ने यह आवश्यक समझा कि उक्त ग्रन्थ की भूमिका मे इस बात का उल्लेख हो जाना चाहिये कि द्विवेदीजी ऐसे उच्च मम्मान के कहॉ तक अधिकारी हैं। कहते हैं कि इस बात को लेकर कार्यकारिणी के सदस्यों में बड़ा वाद विवाद हुआ और उक्त ग्रन्थ की जो भूमिका पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी से लिखाई गई थी, उसमे काफी सशोधन और काट-छॉट की गई। सुनते है कि बाबू श्यामसुन्दरदास उस काट छॉट से इतना अधिक नाराज हो गये थे कि उन्होंने उसमें अपना नाम तक देने से इन-कार कर दिया था। यह हाल देखकर मभा के उन सदस्यों को भूमिका के उस सशोधित रूप को लाचार होकर स्वीकार करना पडा और बडी धूमधाम के साथ द्विवेदी जी को उक्त अभिनदन ग्रन्थ नियत समय पर समर्पित किया गया। कहने का मतलब यह है कि अभिनन्दन-ग्रन्थ भेट करना लड़का का खेल नही है और न सभी कोई उसके पाने के अधिकारी हैं। जब द्विवेदी जी जैसे माहित्यिक महारथी को उसके दिये जाने में बाधाये डाली गई तब यही समझना चाहिये कि यह साधारण सम्मान नहीं है

परन्तु अभिनन्दन-ग्रन्थ के समर्पण के ऐसे ही सम्मान प्रदान को हिन्दीवालो ने अब खासा तमाशा बना दिया है। द्विवेदी-अभिनदन-ग्रथ के बाद ही श्रीयुत जयचद्र विद्यालङ्कार ने पडित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा को वैसा ही अभिनन्दन ग्रन्थ भेट करने का प्रस्ताव बाबू श्यामसुन्दरदास से किया था परन्तु बाबू साहब ने स्पष्ट शब्दों में ऐसा करने से इनकार कर दिया था। तब विद्यालङ्कार जी ने 'सम्मेलन' की शरण ली और वे अपने प्रयत्न में कृतार्थ हुए। इसके बाद हरिऔध जी को अभिनन्दन-

ग्रन्थ प्रदान करने की घोषणा की गई और उनका वह ग्रथ कहा जाता है कि अभी प्रेस के ही नीचे दबा पड़ा हुआ है।

अब हाल मे बाबू मैथिलीशरण गुप्त को अभिनन्दन ग्रन्थ देने का आयोजन शुरू किया गया है। गुप्त जी बड़े सौभाग्यशाली हैं। जयन्ती के अवसर पर उन्हें 'प्रताप' के सम्पादक श्रीयुत नवीन जी मिल गये थे और इस बार के विराट् आयोजन के लिये काशी के रईस राय कृष्णदास जी मिल गये हैं। इस कार्य के सम्पादन का राय साहब को पूरा अनुभव भी है, अतएव इसमे सन्देह नही है कि गुप्तजी को ग्रन्थ-प्रदान का असाधारण सम्मान अवश्य प्राप्त होगा, हरिऔध जी की भाँति उनका अभिनन्दन-ग्रन्थ खटाई मे नहीं पड़ा रह जायगा। यही सब समझ-बूझकर हम गुप्तजी को अपनी पेशगी बधाइ देते है। वे निस्सन्देह सौभाग्यशाली साबित हुए हैं। अखबारों से प्रकट होता है कि गुप्तजी का इस बार काशी मे श्रीमान् द्विवेदी जी से भी अधिक सम्मान प्राप्त होगा। हम भी चाहते हैं कि ऐसा ही हो।

परन्तु अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रदान की जो लीला अभी तक देखने में आई है, उससे तो यही प्रकट हुआ है कि जिनको उक्त ग्रन्थ अर्पित हुए है, उनका सम्मान तो नहीं, घोर अपमान अवश्य किया गया है। जनता भले ही न जानती हो पर इस बात को अनेक लोग जानते हैं कि क्या द्विवेदी जी के सम्बन्ध में, क्या ओझा जी के सम्बन्ध में, दोनो के सिलसिले मे भीतर-ही-भीतर बड़े ही निन्द्य दाँव-पेच चलाये गये हैं। ऐसी दशा मे उन अभिनन्दन-ग्रन्थों के प्रदान के सम्मान का क्या मूल्य हो सकता है, जिनके देने का प्रश्न केवल पानेवालों के कुछ घनिष्ट प्रेमियों या भक्तों की ओर से उठाया गया हो। हरिऔधजी के अभिनन्दन-ग्रन्थ के पीछे ऐसी ही कहानी कही जाती है और

गुप्त जी के सम्बन्ध मे भी लोग-बाग ऐसी ही कानाफूसी करने लगे हैं। इसी से हम यहाँ यह कहने का दुस्साहस करते हैं कि अभिनन्दन-ग्रन्थ को हिन्दीवालो ने तमाशा बना लिया है।

हमारा यह कहना नहीं है कि हरिऔध जी या गुप्त जी अभिनन्दन ग्रन्थ देने के पात्र नहीं हैं परन्तु हम यह जरूर कहना चाहते हैं कि ऐसा कोई प्रस्ताव जब तक सार्वजनिक समर्थन नहीं पाता है और जब तक उसका आयोजन किसी संस्था-विशेष के द्वारा नहीं होता है तब तक उसका कोई मूल्य नहीं है, भले ही एक ग्रन्थ के स्थान मे पॉच-पॉच ग्रन्थ क्यो न प्रदान किये जायँ और उनके आयोजन में चार-चार आचार्यों, कलाकारो और महात्माओ का हाथ क्यों न हो। ऐसे सम्मान का मूल्य तो तभी माना जायगा जब उसके पीछे भारी लोकमत होगा।

हमने देखा है कि द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रदान करनेवालों में भले ही घोर मतभेद रहा हो पर उसके पीछे भारी लोकमत था। हमने यह भी देखा है कि ओझा-अभिनन्दन-ग्रन्थ के समर्पण मे रस्म-अदायी की गई है। न प्रदान करनेवालों में उत्साह था और न जनता का ही ध्यान उस ओर गया। हरिऔध जी के ग्रन्थ के लिये प्रदान-कर्ताओ ने तो बिलकुल ही चाव नहीं दिखाया है। रही जनता सो उसने तो उसकी बात तक नही पूछी। अब आया गुप्त जी का अभिनन्दन-ग्रन्थ सो इसका आयोजन वास्तव मे दृढ़ता के साथ हो रहा है और काफी प्रचार भी किया जा रहा है परन्तु हिन्दी के हलकों में इसका हलकापन ही बताया जा रहा है। इसी से हम कहते हैं कि हिन्दीवालों ने इस महत्त्व के प्रसङ्ग को बिलकुल ही महत्त्वहीन बना दिया है।

परन्तु इस दशा में हमे इस बात का हर्ष जरूर है कि यदि

हिन्दी-भाषी जनता अपने कर्तव्यपालन से विमुख है तो उसके लिये हिन्दी के सरदार अपने कर्तव्य से कैसे विमुख रह सकते हैं। हिन्दी के महारथियों का सम्मान करना उनका कर्तव्य है और वही काम वे कर भी रहे हैं। इसके लिये हम उन्हें साधुवाद देते हैं क्योंकि उनके इस काम से हिन्दी का कल्याण ही होगा, भले ही विशेषज्ञ उनके ऐसे कार्यों को अनुपयुक्त, अनुचित और अनिष्टकर एवं लड़कों का तमाशा बताते रहें।

१३ अक्टूबर १९३९

१७—हिन्दी पर संकट

इस समय हिंदी पर विपत्ति के बादल मँडरा रहे हैं और उसे अपदस्थ करने के लिये भीतर-भीतर ही घोर प्रयत्न हो रहा है। अपनी सर्वगुणसम्पन्नता से वह यहाँ तक उन्नत हुई कि भारत की राष्ट्र-भाषा स्वीकार की गई और इसी दृष्टि से उसका दक्षिण-भारत में व्यापक प्रचार किया गया तथा अन्य प्रांतों में भी उसके प्रचार की व्यवस्था की गई परंतु आज न मालूम किस क्रूर ग्रह की उस पर दृष्टि पड़ गई है कि चारों ओर से उसके गिराने का ही यत्न हो रहा है। और-तो और, जिन लोगों ने उसे राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया था, वही आज यह प्रयत्न कर रहे हैं कि हिंदी 'हिंदुस्तानी' हो जाय और हिंदीवाले 'राम' को 'रहीम' और 'धर्म' को मजहब लिखा करें। इस तरह वे हिंदी को 'वर्णसंकरी' भाषा बना डालना चाहते हैं। इसके लिये वे हिंदी की निंदा-ही-निंदा करने पर उतारू हो गये

हैं। उन्हें उसके साहित्य में अश्लीलता देख पड़ती है, साम्प्रदायिकता का विष पुट जान पड़ता है और उसे भारतीय भाषाओं में चौथा तक स्थान नहीं दिया जा रहा है। यही नहीं, वह सस्कृत के शब्दों के प्रयोग के कारण दुर्बोध भी बताई जा रही है और उसकी परम वैज्ञानिक लिपि तक उन्हें दोषपूर्ण प्रतीत हो रही है।

इस समय हिंदी ऐसी ही बातों से निन्द्य ठहराई जा रही है और उसके साहित्यकार इस प्रकार के लांछनों से हतोत्साह किये जा रहे हैं और यह सब काम व्यवस्थापूर्वक किया जा रहा है। इस कार्य को पुरस्सर करने के लिये सस्थाये तक कायम की जा चुकी हैं और उनके कार्यकर्ता हिंदी को पदभ्रष्ट करने के लिये अपनी रचनाये हिंदी में न लिखकर 'हिंदुस्तानी' में लिखने लग गये हैं और यह सब यह घोषित करके किया जा रहा है कि इससे हिंदी की ही उन्नति होगी। इस प्रकार हिंदी और हिंदीवालों, दोनों को दिन-दोपहर भारी धोखा दिया जा रहा है।

हिंदी पर यह सङ्कट इसलिये लाया गया है कि उसकी वर्तमान उन्नत अवस्था पञ्जाब और सयुक्तप्रांत के मुसलमानों को सह्य नहीं है। उनके रोष को देखकर भारत की नेतागिरी के ठेकेदार विचलित हो उठे हैं और अपने राजनैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिये वे लोग हिंदी को बलि का बकरा बना देने को कटिबद्ध हो गये हैं। परंतु क्या यह बात हिंदीवालो को स्वीकार होगी? क्या वे हिंदी को वर्णसङ्करी भाषा बना डालने को तैयार होंगे? राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने भी ऐसा ही प्रयत्न एक बार पहले किया था परन्तु बाबू हरिश्चन्द्र ने उनके सारे प्रयत्नों को बेकार कर दिया, यहाँ तक कि उसके लिये उन्होंने अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया। हिंदी के सौभाग्य से आज भी उसी

पुनीत नगरी में एक व्यक्ति भारतेन्दु की स्थान-पूर्ति कर रहा है और भारतमार्तण्ड की तरह तप रहा है। क्या उसके रहते हिंदी का यह पराभव होने पायेगा? कदापि नहीं। ऐसा नही हो सकेगा।

हिंदी आज की नही है। उसका अपना भव्य इतिहास है, उसकी अपनी अटूट परम्परायें हैं, उसका अपना विशाल साहित्य है और सबसे अधिक यह बात है कि उसके लिखने-वालो की सख्या ८ करोड़ और उसका व्यवहार करनेवालों की सख्या १८ करोड़ है। ऐसी उन्नत और व्यापक भाषा को भ्रष्ट करने का जो आयोजन हो रहा है, वह हिंदीवालो को कैसे सह्य होगा यह जरा सोचने की बात है। यह सच है कि भूत-काल की तरह इन लोगो के ये सारे प्रयत्न निष्फल होगे परन्तु इनसे उसकी उन्नति मे व्याघात पर्याप्त रूप से होगा। यह वास्तव मे चिंता की बात है पर उपाय ही क्या है?

आखिर हिंदी ने किसी का क्या बिगाडा है, जो उसके साथ यह अन्याय किया जा रहा है? इसका कारण यही है कि हिंदी अनाथ लोगों की भाषा है और वह सघर्षो से डरती रही है। वह चुपचाप अपनी राह चलती रही है। उसका उर्दू से भी कोई झगड़ा नहीं हुआ। संयुक्तप्रांत और राजपूताने में हिन्दी के अदालतों की भाषा न होने से हिन्दू एक युग से तरह तरह के कष्ट भोग रहे हैं परन्तु हिन्दीवालों ने कभी इस बात का आंदोलन नहीं किया कि देश की सरकारों में हिन्दी को उसका नैसर्गिक अधिकार तथा स्थान दिया जाय। उसके पुरस्कर्ताओं की इस सौम्य नीति का ही यह परिणाम है कि उसके स्वत्वों की सदा हत्या की गई है।

अतएव अब यह बात उसके लिये दिन-दिन आवश्यक होती जा रही है कि उनमें क्षात्र भाव उत्पन्न किया जाय और

वह अपने स्वत्वो की रक्षा के लिये आगे लाई जाय। सबसे पहले उसे इस बात का आन्दोलन करना होगा कि सरकार के दरबार में तथा देशी रजवाड़ो मे हिन्दी को उसका उचित दर्जा दिया जाय। इसके लिये हिन्दीवालो को एक पृथक् सङ्गठन करना चाहिये, जो इस आन्दोलन का स्वतन्त्र रूप से सञ्चालन करे। सदियो के इस अन्याय से एक तो हिन्दी आगे बढ़ नही पाती, दूसरे उसकी मर्यादा को भी भारी ठेस पहुँचती है। हिन्दी की जो सस्थाये अपने को हिन्दी की प्रमुख उत्तर दायित्वपूर्ण होने का ढिंढोरा पीटती रहती हैं, वे सबकी सब निकम्मी साबित हुई हैं। उन्होंने हिन्दी के स्वत्वों की रक्षा करने मे अवहेलना ही नहीं दिखलाई है किन्तु उसके साहित्य रचना के आवश्यक कार्यो में भी गैर जिम्मेदारी का ही परिचय दिया है। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो गया है कि ऐसी नई सस्थाये कायम की जायँ, जो व्यवस्थित रूप से साहित्य रचना की नई स्कीमें बना बनाकर उन्हें कार्य में परिणत करे।

अलीगढ़ में अभी उस दिन उर्दू के प्रेमियो की एक बहुत बड़ी सभा हुई थी। उसमे इस बात का निश्चय किया गया है कि मुसलमानी सभ्यता कायम रखने के लिये उर्दू के साहित्य की वृद्धि की जाय और देश मे उसे जो महत्त्व प्राप्त है, उसे ज्यों का त्यों बनाये रखने, साथ ही उसे भारत की राष्ट्र-भाषा बनाने का प्रयत्न किया जाय। इस सभा मे मुसलमान ग्रथकार और लेखक ही नहीं उपस्थित हुए थे किन्तु बड़े बड़े राजा और नवाब भी आये थे और सभा के निश्चयों से अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट की थी। इस सभा मे कुछ उर्दू प्रेमी काश्मीरी ों ने भी उत्साह से भाग लिया था।

इधर हिन्दी का क्या हाल है? उसे राजा महाराजाओ का सहारा तो मिलता नहीं तथा जिन देशभक्तों और लोकनेताओं

से उसे सहायता की आशा थी, वे तक अपनी सहायता करने में शर्तें लगा रहे हैं। वे चाहते हैं कि हिन्दीवाले हिन्दी को उर्दू बना दें।

परन्तु हिन्दी आत्म हत्या करने को तैयार न होगी। उसकी भी अपनी सस्कृति है। चन्द से लेकर भारतेन्दु तक उसकी अगाध धारा आज भी प्रवाहित है। यही नहीं, भारतेन्दु ने उसके लिये सर्व स्वाहा करके उसमें ऐसे प्राणो का सञ्चार किया है कि आज वही असहाय हिंदी भारत की सभी प्रातीय भाषाओं को पीछे छोड़ गई है और जो आज यह नया सङ्कट उसके आगे आया है, उसे भी वह अनायास ही पार कर ले जायगी। मुसलमानो के काल मे उसके साथ अन्याय किया गया पर वह बराबर फलती फूलती रही। इधर अग्रेजी शासन काल में उसके साथ पूरी अवहेलना की गई तो भी वह पहले जैसा ही खेलती-कूदती रही। ससार मे एक हिन्दी ही ऐसी भाषा है, जो एकमात्र सर्वसाधारण के सहारे पर जीवित रही है। प्रसन्नता की बात है कि उसे उसका वह सहारा आज भी पूरी तरह प्राप्त है। और हरिश्चन्द्र जैसे उसके लिये सर्वस्व निछावर कर देनेवाले 'भारतेन्दु भी मौजूद हैं, जो उसको उन्नत करने के लिये किसी तरह का त्याग बाकी नहीं रख छोड़ना चाहते। ऐसी दशा में हिन्दी को किसी का भय नहीं है और जब तक हिन्दुओं में हिन्दुत्व है और उनकी सस्कृति मे सजीवता है तब तक हिन्दी की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होगी। इसमें सन्देह को जरा भी स्थान नहीं है।

इसके साथ ही एक और बात है। हमारे अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दी-भाषी अपनी बातचीत मे बहुतेरे अँगरेजी शब्दों का प्रयोग करने लगे हैं। उनकी यह प्रवृत्ति हिन्दी के लिये घातक है। हिन्दी मे उपयुक्त शब्दों के होते हुए भी अँगरेजी या किसी दूसरी

भाषा के शब्दों का प्रयोग करना केवल उनके दम्भ एवं उनकी दास-मनोवृत्ति का ही सूचक है। उन्हें अपने इस अनाचार से हाथ खींच लेना चाहिये और हिन्दी का स्वरूप विकृत नहीं होने देना चाहिये। हिन्दी का शब्द-समूह उनके लिये पर्याप्त है। अतएव लिखने की तरह उन्हें बोलने मे भी भाषा की विशुद्धता का ध्यान रखना चाहिये। ऐसा ही करके हम अपनी मातृ-भाषा के प्रति अपना कर्तव्य पालन कर सकेंगे।

१० नवम्बर १९३६

१८—'गीताधर्म' और गुप्त जी

श्रीयुत मैथिलीशरण जी गुप्त हिन्दी के एक श्रेष्ठ कवि हैं। हिन्दी की कविता मे बोलचाल की भाषा का प्रयोग उन्ही के प्रयत्नों से सफलता को प्राप्त हुआ है। यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है. और हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनका नाम एक इसी बात के कारण सदा अमर रहेगा। परन्तु इस बात में काफी मतभेद है कि वही एक हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रिय कवि हैं। पिछले दिनो उनकी जो जयन्ती मनाई गई तथा काशी जी मे उनका जो मान-सम्मान किया गया, उस सिलसिले में हमने लिखा था कि गुप्त जी का सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रिय कवि के रूप में मान करना अन्य प्रान्तीय भाषाओ के आगे हिन्दी का अपने हाथों अपमान करने के समान होगा। और वही अन्त में हुआ भी। काशी जी मे 'मान-ग्रन्थ' भेट करते समय महात्मा गान्धी जी ने उस प्रसग में जो भाषण किया, उससे

उक्त मान का सारा आडम्बर ध्वस्त हो गया और सारी कलई खुल गई। कौन नहीं जानता है कि जयन्ती का प्रस्ताव और मान-प्रदान की प्रेरणा गुप्त जी के कुछ सगी-साथियो की ओर से ही हुई थी। उन लोगो ने हल्ला बोल दिया और जहाँ-तहाँ नहीं, अनेक स्थानो मे दस-पाँच इष्ट-मित्र बैठ गये और गुप्त जी की साहित्य-सेवा का बखान कर अखबारो मे छपवा दिया कि गुप्त जी की जयन्ती अमुक स्थान मे धूमधाम से मनाई गई। जयन्ती का मनाना तो तब सार्थक होता जब उसमे हिन्दी की प्रमुख सस्थाये तथा साहित्यिक अपने आप उत्साह-पूर्वक भाग लेते। 'प्रताप' और उसके नवीन जी ने जयन्ती मनवाई है। कौन नहीं जानता कि प्रताप-ट्रस्ट के एक सदस्य श्रीमान् गुप्त जी स्वय है? इधर काशी के राय कृष्णदास का गुप्त जी से पक्का भाईचारा ठहरा। सयोग से आचार्य बनने के भूखे एक साहित्य-रसिक नवयुवक भी उन्हें अनायास ही मिल गये। फिर क्या था? 'मान-प्रदान' की झटपट काशी जी में व्यवस्था हो गई। इस अवसर पर महात्मा जी ने अपने भाषण में जो खरी-खरी बाते कही, वे पत्रो मे छपने नहीं पाई। उनके भाषण का एक अंश केवल 'आज' ने छापा था। उसकी अभिनव व्याख्या करते हुए 'गीताधर्म' के आचार्य जी दूसरा ही राग अलाप रहे हैं और जो लोग सत्य बात को 'सत्य' ही समझना चाहते हैं, उनकी आँखो मे धूल झोंककर वे उन्हें 'अरसिक' बताकर उनका अपमान करने की ढिठाई कर रहे हैं। वे कहते हैं कि महात्मा जी के भाषण का वास्तविक अर्थ लोगो ने नहीं समझा। पाठको की जानकारी के लिए उस भाषण का उक्त अश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

'मेरे हाथो-द्वारा जो यह भेट दिलवाई गई, वह अच्छी नहीं मालूम हुई। न तो मैं कवि हूँ, न मैं हिन्दी-भाषा को ही

अच्छी तरह जानता हूँ। मुझे तो किसी छोटे या बड़े की जयन्ती मनाना भी पसन्द नहीं है। यदि किसी की जयन्ती मनाना भी हो तो तब मनाना चाहिए जब कि वह आदमी न हो। रामचन्द्र जी जब जीवित थे तब वे अवतार नहीं माने जाते थे। तुलसीदास जी जब थे तब उनकी जयन्ती नहीं मनाई गई थी। उसी तरह यह जयन्ती तब मनानी चाहिए थी जब कवि न होते। वैसे समय में लोग जानते कि उनके लिए कुछ किया जा रहा है। लोग क्षमा करेंगे। मैंने तो जब पद्मनारायण जी सेगाँव गये थे, यह कह दिया था कि किसी अच्छे कवि के लिये सम्मतियों का लिखना अच्छा नहीं। किसी सत्कवि की कृति कभी सम्मति की अपेक्षा नहीं करती। मैंने यदि कभी गुरुदेव के लिए, मालवीय जी के लिए अथवा द्विवेदी जी के लिए कुछ लिखकर दिया है तो दबाव से ही। सच पूछो तो मेरी इच्छा कभी किसी महापुरुष के सम्बन्ध मे लिखने की नहीं हुई। यदि उस समय मैंने गलती की थी तो क्या अब भी वही गलती करता रहूँ? यदि तुम भी कुछ दबाव डालो तो मैं तुम्हें भी कुछ लिखकर दे सकता हूँ पर स्वेच्छावश नहीं। मैथिलीशरण जी को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। उनके बारे मे कुछ नहीं लिखते। फिर भी हममे कोई गलतफहमी नहीं होगी। चिरगाँव मे उनका आतिथ्य भी स्वीकार कर चुका हूँ।'

इस सम्बन्ध मे 'गीताधर्म' के आचार्य महोदय के सम्पादकीय मे जो छपा है, वह भी हम यहाँ उद्धृत करते है—

'महात्माजी ने जो भाषण दिया, वह वस्तुत कवि के साथ उनकी आत्मीयता का सूचक था। उन्होने साफ यह कह दिया था कि जिसके भी अभिनन्दनग्रन्थ के लिए मैंने सन्देश लिखा, वह हठ और आग्रह के ही कारण लिखा। कवि गुप्त जी के

लिए मैंने लिखना उचित नही समझा और न यही उनकी प्रशसा मे कुछ कहूँगा। मै उन्हें भली-भाँति जानता हूँ, उनके यहाँ आतिथ्य भी स्वीकार कर चुका हूँ—वस्तुत इस भाषण में यही भावना प्रधानतया स्पष्ट है कि कही गाधीजी का कवि के लिए कुछ कहना आत्म-प्रशसा न हो जाय। अति घनिष्टता मे ऐसे भाव का होना स्वाभाविक ही है। फिर महात्मा जी अपने एक पत्र मे श्री पद्मनारायण जी के निकट स्वीकार भी कर चुके हैं कि हममे और गुप्त जी मे कोई गलतफहमी नही हो सकती। ऐसी दशा मे उन्होने जो कुछ कहा है, वह बहुत ही उपयुक्त कहा। आपके कथन मे व्यञ्जना का जो रस रहा, उसका स्वाद अरसिक लोग न पा सके। इसीलिए हमारे कतिपय श्रोता भाषण के मर्म को न पहचानकर उस पर असन्तोष प्रकट करते थे। यहाँ तक कि कुछ जिम्मेदार पत्र-सम्पादक भी इसी गलतफहमी के शिकार बन गये हैं। किसी ने ठीक ही कहा है—'अरसिकेषु कवित्वनिवेदन शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।'

पाठक देखे कि आचार्य जी के सम्पादकीय का यह भाष्य कहाँ तक सगत है। जैसे आचार्य जी गान्धी जी के भाषण का इस तरह आशय निकालते है, वैसे ही हिन्दी के 'अरसिक' उनके इस सम्पादकीय का यह आशय निकालते है कि उनका यह प्रयत्न उपहासास्पद ही हुआ है। इससे गुप्त जी के पक्ष का समर्थन नही होता, उल्टा वह और प्रकाश मे आ जाता है, जो वाञ्छनीय नहीं है। हिन्दीवालो ने गुप्त जी का सम्मान जैसा चाहिए, वैसा सदा किया है और आज भी वे उनका तद्वत् सम्मान करते है परन्तु उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए आडम्बर रचना तथा प्रोपेगंडा करना या होने देना इस गान्धी-युग के नवयुवक हिन्दी-भाषी कदापि सहन नही कर सकते।

इसमे वे अपनी राष्ट्र-भाषा की हेठी समझते हैं। वे जानते हैं कि उसकी कैसी प्रगति है और उसका गन्तव्य मार्ग कहाँ तक विघ्न-बाधाओ से पूर्ण है। अतएव वे न धोखे मे रहना चाहते है और न किसी को धोखा देना चाहते है। 'गीताधर्म' को अपना धर्म-प्रदीप सावधानी के साथ ही हिन्दी के क्षेत्र मे जलाना होगा। उनका गुरुडम का यह टोन काम न आयेगा।

१७ जनवरी १९३८

१९—चौबे जी की लीला

पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी हिन्दीवालों के लिए पहेली-सा बने हुए हैं। वे कोई-न-कोई नया शिगूफा छेड़े ही रहते हैं। आजकल वे बिडला लोगो पर बिगड़े हुए हैं और मौका पाते ही उन पर बाज की तरह टूट पडते हैं। अभी हाल मे सारनाथ मे बिडला जी की एक धर्मशाला का उद्घाटन हुआ है। यह धर्मशाला उन्होंने सारनाथ मे आनेवाले विदेशी बौद्ध यात्रियों के लिए बनवाई है और यह केवल बौद्धो और हिन्दुओ के ही ठहरने के लिए है। इसी बात को लेकर विश्व-बन्धुत्व के हिमायती और टैगोर-भक्त हमारे चौबे जी महाराज को मौका मिल गया और उनकी नींद हराम हो गई। यही नहीं, उनके दिमाग का पारा चढ़ गया और उनकी जबान की काग ढीली हो गई और वे बरस पडे। यहाँ तक कि बिड़ला जी उन्हें 'मरीज' दिखने लगे और इतने पर भी इन गान्धी-भक्त ब्राह्मण महाराज को दया तक न आई और अपने इस नये मरीज के प्रति सहानुभूति दिखलाना तो दूर रहा, उलटा उसको गाली देने लगे।

चौबे जी का कहना है कि बिडला जी हिन्दू-सस्कृति के कट्टर प्रेमी हैं। गान्धी जी को चाहिए कि उनके दान के वहीखाते की जॉच करें कि वे शुद्धि-सगठन आदि के लिए कितना दान कर चुके हैं और यह जान लेने के बाद वे उनको अपने पास न आने दे और उन्हें बारह पत्थर बाहर कर दे। बिडला जी की 'भयकर' साम्प्रदायिक 'मनोवृत्ति' को कोसते हुए चौबे जी यह भी धमकी देते हैं कि वे जो रुपया पैदा करते हैं, उसमे 'अनार्यो' के परिश्रम का भी भाग है।

कोई इस भले आदमी से पूछे कि आपका इन बातो से मतलब ? यह सब बकने का आपका क्या हक है ? जब स्वय आपका आका घोर सम्प्रदायवादी और कट्टर प्रान्तीयतावादी और जिसकी साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता का आप समय-असमय पोपण और समर्थन करते रहते हैं तब आप उसी बात के लिए बिडला जी को क्यो डॉट रहे है ? परन्तु श्रीमान् चौबे जी से इन सब बातो से क्या मतलब ? वे तो येन केन प्रकारेण प्रसिद्ध होना चाहते है। उनकी इस लीला से हिन्दीवाले यह तो जानेगे कि उनमें भी एक ऐसे पानी का आदमी है, जो बिड़ला जी जैसे भारत-प्रसिद्ध व्यक्ति की भी बेहुरमती कर सकता है और उनके लिए डाक्टर की तजबीज कर उनका खुले आम उपहास कर सकता है। परन्तु दोहाई चौबे जी की ! हिन्दीवाले इतना मूर्ख अब नहीं रहे, जितना वे उन्हें समझ रहे है।

पण्डित बनारसीदास विश्वबन्धुत्व के कितने भारी हामी हैं, उनमे साम्यवाद की भावना कितने जोश से लहराती रहती है तथा उनके लेख कितने मौलिक विचारो से ओत-प्रोत रहते है, इन सबका पर्दा उन्होने अपने हाथों फाश कर दिया है और हिन्दीवालो को उनके असली रूप का भले प्रकार दर्शन हो

गया है। सभी जान गये हैं कि चौबे जी जो कुछ भला-बुरा लिखते हैं, सिर्फ अपने को आगे रखने के लिए। इसके सिवा उनके लिखने मे और कोई सार बात नहीं रहती। पिछले दिनो ठाकुर श्रीनाथसिंह ने 'सरस्वती' मे उनका जो भण्डा-फोड़ किया है, उससे उनकी सारी कलई खुल गई है और वे चुप भी हो गये थे परन्तु चौबे जी उन आदमियों में हैं, जो 'सौ सौ धक्के खायॅ तमाशा घुस घुस देखे। और वे अब फिर आगे आ कूदे है। उनमें इतनी अधिक अहम्मन्यता हो गई है या यह कहें कि वे इतना नींघस हो गये हैं कि उनका मुलम्मापन प्रकट हो जाने पर भी वे अपने को बराबर खरा सोना ही बताये चले जा रहे है। वे अपने को हिन्दी का महारथी समझते हैं और उसकी सभी दिशाओ मे पॉव अड़ाने का ही नही दम भरते है किन्तु इसके साथ ही बड़े आदमी बनने का भी दम्भ करते हैं।

उन्होने अपनी तीर्थयात्रा का जो प्रोग्राम छापा है, आखिर उसका क्या मतलब है ? यही न कि लोग समझ जायॅ कि यह चौबे भी बडे पाये का आदमी है, कितने बड़े-बड़े लोगो तक इसकी पहुॅच है तथा इसको कहॉ कहॉ से लोग बुलाते रहते है ? परन्तु हिन्दी का यह साहित्य-तपस्वी अपनी तपस्या से एक क्षण के लिए भी विरत नहीं होता। नही तो वह कभी को हिन्दी का 'बासबेल' तो कम-से-कम हो ही गया होता। इसके लिए उसे ४००) क्या, उससे भी अधिक रकम पैरो पर निछावर की जा रही थी पर उसने उस पर लात मार दी क्योंकि उसे तो बोलवेल नही, सेगॉव और बोलपुर की तीर्थ-पुरोहिती प्राप्त करने की महत्त्वाकाक्षा थी और जिसको उसने कम-से-कम अपनी ओर से तो प्राप्त ही कर लिया है।

पण्डित बनारसीदास की यह लीला कुछ लोगो की निगाह

मे सचमुच एक विकट पहेली है और बहुतेरे तो उसके फेर मे पड़कर काफी धोखा भी खा चुके है परन्तु धीरे-धीरे सब बात प्रकट हो गई है और यह दिन की तरह प्रकाश मे आ गया है कि उनमे कुछ भी सार की बात नही है और न उनकी बातो को कोई महत्त्व ही देता है। वे वास्तव मे कोरे-के-कोरे प्रोपेगेंडिस्ट है और बड़ी सावधानी से अपना प्रचार बराबर करते रहते है। और इसके लिए वे कोई नया शिकार सदा ढूँढ़ते रहते है। प्रारम्भ मे उन्होने उग्र को अपना शिकार बनाया था, फिर निराला और चतुरसेन शास्त्री को रगड़ देने का उपक्रम किया। परन्तु इन सघर्षो मे उनको जो तुर्की-ब-तुर्की जवाब मिले, उनसे अन्त मे उनका रहस्य लोगो को मालूम हो गया, अतएव हिन्दीवालो के मुँह न लगकर इस बार चौबे जी ने एक ऐसा आदमी चुना है, जो अपनी पद-मर्यादा के लिहाज से उनको जवाब भी न दे सके और इनका भी मतलब हल हो जाय। और बिड़ला जी के सिवा ऐसा और कौन व्यक्ति उन्हें मिल सकता था? चौबे जी जानते ही हैं कि बिड़ला जी उनको मुँह न लगायेगे। इसी से बड़े मजे के साथ चौबे जी वार-पर-वार करते जा रहे है, और उनका प्रचार का मार्ग प्रशस्त होता जा रहा है।

श्रीमान् चौबे जी के इसी प्रचारात्मक साहित्य-निर्माण को हिन्दी के कुछ भोले-भाले लोग सुन्दर साहित्य-रचना समझकर ग्रहण कर रहे है। भला हो कलकत्ते के 'विशाल भारत' का, जो आज ऐसे 'इमर्सिनी' साहित्य के प्रचार का सुन्दर साधन बन रहा है। सबसे अधिक बधाई तो स्वयं चौबे जी महाराज को है, जो अपने प्रयत्न मे इस प्रकार सफल-मनोरथ हुए है तथा अभी भविष्य मे और अधिक होंगे। इस सिलसिले में खेद तथा लज्जा की बात यदि कुछ है तो इतनी ही कि

श्रीमान् चतुर्वेदी जी के इस स्वार्थपूर्ण व्यापार से हिन्दी तथा हिन्दीवालो का माथा अवश्य झुक जाता है, जिसका कोई उपाय नहीं है क्योंकि चतुर्वेदी जी से चाहे जितना कहा जाय, वे अपनी आदत से बाज नहीं आने के। परन्तु इतने पर भी हिन्दीवालो का इतना तो कर्तव्य है ही कि वे भी डके की चोट पर यह घोषित कर दे कि चौबे जी महाराज जो कुछ करते है, वह सब अपने लिए करते है, उसका हिन्दी तथा हिन्दीवालो से कोई सम्बन्ध नहीं है।

२ फरवरी १६३७

२०—मिश्रबन्धुओं की भद्दी भूलें

(१)

गत पन्द्रह वर्षो के भीतर हिन्दी की अभूतपूर्व उन्नति हुई है। यहाँ तक कि वह बँगला और मराठी जैसी उच्च भाषाओ से स्पर्धा करने लगी है। वास्तव मे हिन्दी मे संस्कृत सुरुचि का प्रकाश और प्राञ्जल भावो का काफी विकास हो गया है। फलत उसके साहित्य मे मौलिकता आ गई है। इसी से यदि कोई आदर्श और स्टैंडर्ड के विपरीत कार्य कर बैठता है तो यह आवश्यक हो जाता है कि उसका परिहार किया जाय, फिर वह 'कोई' कोई क्यो न हो। इस बार ऐसा 'अशोभन' कार्य लखनऊ के प्रसिद्ध मिश्रबन्धुओ ने कर डाला है। उन्होने अपने 'विनोद' का जो चौथा भाग अभी हाल मे छपवाया है, वह भ्रान्तियों का भाण्डार है और उससे राष्ट्रभाषा हिन्दी का अपमान हुआ है।

इस समय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की अर्द्ध शताब्दी मनाने का उपक्रम बड़े आयोजन के साथ हो रहा है। उसके उत्सव के अवसर पर हिन्दी के सूत्रधार हिन्दी की उन्नति के उज्ज्वल इतिहास का भी वर्णन करेंगे। काशी की 'सभा' के सस्थापकों तथा भारतेन्दुकालीन लेखकों के प्रयत्न से हिन्दी का जो यह इतना भव्य अभ्युदय हुआ है, उसकी कथा उस समारोह के अवसर पर कही जायगी। परन्तु जहाँ यह सब होने की आशा की जा रही है, वहाँ मिश्रबन्धुओ ने अपने 'विनोद' का बम चलाकर एक अमंगल कार्य करने का श्रेय लूटा है। यद्यपि मिश्रबन्धुओ की किसी रचना की प्रतिकूल आलोचना करना जोखिम का काम है, उनके कोपानल मे आलोचक को जीवन-पर्यन्त जलते रहने का भारी डर है, तो भी कर्त्तव्य की प्रेरणा से हम उनकी उस अकीर्तिकर रचना का भण्डाफोड़ करने के कार्य से विरत नही हो सकते।

विनोद का यह चौथा भाग खासा बड़ा पोथा है। इसकी रचना भी विचित्र ढग से की गई है। इसकी पृष्ठ-सख्या ६६० है। प्रारम्भ के १३६ पृष्ठो मे आदिकाल के 'शेष कविगण', 'प्राचीन कविगण' और 'अज्ञातकाल' नाम के तीन प्रकरण दिये गये है। इनके बाद आधुनिक हिन्दी का वर्णन आता है, जो शेष ५२४ पृष्ठो में समाप्त हुआ है। पुस्तक का यह अश दो प्रकरणो में विभक्त है। एक का नाम 'पूर्व नूतन परिपाटी' और दूसरे का 'उत्तर नूतन परिपाटी' है। फिर उत्तर नूतन परिपाटी के भीतर 'आजकल' शीर्षक एक भिन्न प्रकरण तैयार किया गया है। इस प्रकार इस विलक्षण ग्रन्थ की रचना की गई है।

उपर्युक्त प्रकरणों में तत्कालीन कवियों एव लेखकों के साथ तत्काल की देश की राजनैतिक अवस्था का भी वर्णन किया

गया है, परन्तु उसका सामञ्जस्य तत्काल की हिन्दी की प्रगति से नही किया गया है। इसके सिवा हिन्दी के लेखक जिस क्रम से 'उत्कृष्ट' या 'निकृष्ट' कहे गये हैं, उसमें तत्सम्बन्धी कथनो के 'दृढ आधारो' का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है, केवल जो मन मे आया वही अट-सट लिख दिया गया है। ऐसी दशा मे उनके निराधार 'कथनो' के सम्बन्ध मे कोई कुछ कहे भी तो क्या कहे? तो भी यहाँ हम थोडे मे उनकी कुछ भद्दी भूलो का वर्णन करेंगे, जिससे अपने आप प्रकट हो जायगा कि यह पुस्तक इतिहास की दृष्टि से कितनी अप्रामाणिक और निन्द्य है एव इसमे 'आरोचन' का कितना अभाव है।

हम यहाँ उक्त पुस्तक के आधुनिक काल-सम्बन्धी अश के विषय मे ही अपने विचार प्रकट करेंगे। अतएव यहाँ हम पहले 'पूर्व नूतन परिपाटी' के प्रकरण को लेते है। इसका समय सवत् १९४५ से १९६० तक माना गया है—अर्थात् सन् १८८८ से सन् १९०३ तक। इन पन्द्रह वर्षो मे हिन्दी की कैसी गति-विधि रही, इसका विवेचन पडित रामचन्द्र शुक्ल बी० ए०, बाबू श्यामसुन्दरदास, पडित रमाशकर शुक्ल 'रसाल', एम० ए०, पण्डित रमाकान्त त्रिपाठी एम० ए० आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थो मे बहुत कुछ किया है। परन्तु इसका जो वर्णन मिश्रबन्धुओ ने इस ग्रन्थ मे किया है वह भ्रान्त, ऊल-जलूल और क्रम-रहित है। आप लिखते है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'ग्रन्थ-रत्न प्रलय-पर्यन्त समाज के प्रभावित करने मे सक्षम रहेंगे।' (१३७ पृष्ठ) ऐसे ही 'कथनो' से यह इतिहास मण्डित किया गया है! ऊपर से भूमिका मे यह दावा किया गया है कि 'इस भाग के कथनो के आधार दृढ़ है।' खैर, यहाँ हम उनके इस दृढ़ आधार पर स्थित 'कथन' को अतिशयोक्ति-अलकार का एक उदाहरण माने लेते है।

लेखक महोदयों ने अपने ग्रन्थ में लेखको का विवरण एक विशेष नियम के अनुसार दिया है। जब जिसका रचना-काल उन्होने माना है, वही उसका उल्लेख कर दिया है, पर अपना वर्णन वे सभी जगह करते चले गये हैं। इस नियम से उनका यह फायदा जरूर हुआ है कि 'सबल' और 'प्रवीण' लेखक पीछे पड़ गये है और आधुनिक सभी 'प्रकरण-कालो' मे मिश्रबन्धु ही चमकते-दमकते दिखाई देते हैं।

परन्तु उक्त नियम का प्रयोग करके मिश्रबन्धुओ का चांहे जो लाभ हुआ हो, उससे हिन्दी की हानि हुई है, क्योकि उन्होने उसकी प्रगति का जो रूप अकित किया है, वह विकृत और अप्रामाणिक हो गया है। उदाहरण के लिए हम आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का उल्लेख करते हैं। यह सभी लोग जानते और मानते हैं कि द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादक रह कर लगातार अठारह वर्ष तक हिन्दी के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और उनका यह समय मिश्रबन्धुओ के 'उत्तर नूतन परिपाटी' के काल मे पड़ता है परन्तु मिश्रबन्धुओ ने इस काल के वर्णन मे उनकी वास्तविक साहित्यिक 'सबलता' का भूल कर भी उल्लेख नही किया है। इसी प्रकार उन्होने हिन्दी के इस अभ्युदयकाल के सभी महारथियो का विवरण यथास्थान न देकर इधर-उधर कर दिया है, जिससे हिन्दी की प्रगति के क्रम-विकास का सिलसिला ही नही बैठ पाता है। १४६वे पृष्ठ मे वे लिखते है—"रामनारायण मिश्र ने दो अन्य महाशयों के साथ योरप यात्रा लिखी है। हम (शुकदेवविहारी मिश्र) ने भी प्राय सवा सौ पृष्ठो की योरप-नीरोग-यात्रा प्रकाशित की है।" ये दोनो ग्रन्थ पिछले चार-पॉच वर्षो के भीतर ही प्रकाशित हुए हैं परन्तु बुद्धिमान् लेखको ने इनका वर्णन सन् १९०३ मे समाप्त होनेवाले प्रकरण मे किया है।

इसी प्रकार पृष्ठ १६६ में लिख दिया है कि "गद्य-साहित्य के विषय मे श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन मे अच्छे प्रकार से प्रकाश डाला।" यह ग्रन्थ 'आजकल' के काल के प्रारम्भ मे प्रकाशित हुआ था परन्तु उसका वर्णन किया गया है 'पूर्व नूतन परिपाटी' के काल मे! ऐसी बातो की लेखको ने कहाँ कब परवा की है।

मिश्रबन्धुओ ने लिखा है कि 'पूर्व नूतन परिपाटी'-काल के साहित्य पर राजनैतिक आन्दोलन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब उस पर किस वस्तु का प्रभाव पड़ा है, इसकी उन्होने चर्चा ही नही की। चर्चा करे भी तो कैसे करे? कल्पना कहाँ तक साथ दे! खैर, इस काल के मुख्य साहित्य-सेवियो मे 'अयोध्यासिंह उपाध्याय, जगन्नाथदास रत्नाकर, अजमेरी जी, गयाप्रसाद (सनेही), राय देवीप्रसाद (पूर्ण), देवकीनन्दन खत्री, ठाकुर गदाधरसिह (सचेंडीवाले), श्याम-सुन्दरदास, व्रजनन्दनसहाय, कन्नोमल, रूपनारायण पाण्डेय तथा बालमुकुन्द गुप्त' का, साथ ही अपना भी उल्लेख किया है।

इस काल के सम्बन्ध मे लेखको ने लिखा है कि "सबसे बडी बात यह हुई कि प्राचीन प्रथावाली शृङ्गार-कविता का बल बहुत क्षीण पड़ गया और विविध विषयों के वर्णन अधिकता से होने लगे।" (पृ० १४०) परन्तु यह बताने की कृपा नहीं की कि किसके द्वारा यह सब सम्भव हुआ। इसके आगे उन्होने लिखा है—"प्राचीन समय के भी कवियो में कितनो ही ने अनेकानेक ऐसे ग्रन्थ बनाये किन्तु समय ने उत्कृष्ट रचनाओ को छोड शेष को अपनी उदरदरी मे रख लिया है।" (पृ० १४०) यह लिखकर लेखको को सलाह दी है—"रचयिताओ को उचित है कि बहुत-से ग्रन्थ बनाने की चेष्टा छोड़ कर विशेष परिश्रम-द्वारा थोडे ही से ऐसे विषयो पर अच्छी पुस्तके बनावे,

जिनमे उन्हें पात्रता हो।" (पृ० १४१) यदि लेखक महोदय इस सत्परामर्श के अनुसार स्वय कार्य करते तो आज वे कम-से-कम इस सम्बन्ध मे हमारे अवश्य आदर्श होते। खेद है, इसका कटु अनुभव उन्हें अब इतने दिनो के बाद हुआ है। तो भी उनका यह उपदेश उपेक्षणीय नही है।

मिश्रबन्धुओ ने यह भी लिखा है—"मित्रो की झूठी प्रशसा तथा शत्रुओ की ईर्ष्यापूर्ण निन्दा का प्रभाव कुछ ही काल रह सकता है। आज-कल दो-चार स्थानो पर प्रशंसा और निन्दा के बैने-से बॅटते है।" (पृ० १४२) इस सम्बन्ध मे हम अपनी ओर से कुछ भी नही कहना चाहते, यद्यपि लेखक महोदयो ने यह बडी भेदभरी बात कही है। परन्तु यहॉ हम उनसे यह विनम्रता-पूर्वक पूछना चाहते है कि जिन व्यक्तियो ने हिन्दी मे नाम गिनाने को कभी कोई साधारण पुस्तक तक लिखने का कष्ट नही किया, उन्हें एक 'उत्कृष्ट लेखक' उन्होने किस दृढ आधार पर लिख दिया है? खैर, हम यहॉ ऐसे व्यक्तियो के नाम नही उल्लेख करना चाहते क्योकि स्वय ग्रन्थकारो ने ही लिखा है कि झूठी प्रशसा या निन्दा का प्रभाव स्थायी नही होता। और प्रशसा, सो उन्होने अपनी तथा अपने लोगो की शतमुख से की है! जैसे श्री दुलारेलाल भार्गव को दूसरा 'भारतेन्दु' बना दिया है। कौन हिन्दी-प्रेमी यह बात नहीं जानता कि काशी के बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने हिन्दी के लिए अपना सर्वस्व दे दिया है! और जब हमारे लेखक महोदयो को उक्त बाबू साहब जैसी हिन्दी-प्रेमी की हिन्दी-सेवा उतने महत्त्व की नही जान पड़ी तब 'चॉद' के प्रवर्तक श्री रामरखसिह सहगल, जिन्होने हिन्दी मे क्रान्तिकारी साहित्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया, किस गिनती मे हो सकते हैं। यह हिन्दी का दुर्भाग्य है कि ऐसी मनोवृत्ति के लोग ही उसके अगुआ बने हुए हैं!

मतलब स्पष्ट है क्योंकि आगे खोलकर लिख दिया है कि 'पद्मसिंह' 'पक्षपातपूर्ण', 'लाला भगवानदीन' 'दुराग्रही' हैं और 'श्यामसुन्दरदास' के विचार निराधार है। तब कौन रह गया ? इस क्षेत्र मे भी आप लोग 'सिरमौर' हो गये। पौरुष हो तो ऐसा !

'सबसे प्राचीन इतिहास-लेखक' म० महो० रायबहादुर पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा के सम्बन्ध में लिखते हुए लेखको ने अपने सौहार्द और शिष्टता का बडे सुन्दर ढग से परिचय दिया है। आप लोगो ने लिखा है—

"अजमेरवाले अजायबघर के क्यूरेटर है। इतिहास जीविका का साधन है। आपने कई अच्छे इतिहास-ग्रन्थ रचे हैं। अँगरेजो की भॉति भारतीय गण्यमान्य महाशयो अथवा ग्रन्थो को कल्पित प्रमाणित करने मे आपको कुछ आनन्द-सा आता है।" और उनकी उपपत्तियो का खण्डन न कर सकने पर आप लोगो को क्या आता है ? आप लोग भी इतिहासकार होने का दावा करते है ! लिखते है—"हम ने दो भागो मे इतिहास रचा। पहले खण्ड मे प्राय ५०० पृष्ठो मे ६,००० स० पूर्व से ६०० स० पूर्व तक का विवरण तथा दूसरे में ६०० स० पूर्व से मुसलमान-विजय तक का। इनके अतिरिक्त दो और छोटे-छोटे इतिहास-ग्रन्थ हम ने लिखे, तथा कई का सम्पादन किया।'

सचमुच ओझा जी ने भारत के एक ही प्रान्त का इतिहास लिखा है ! तब वे आप लोगो के आगे कहॉ ठहर सकते है ?

(२)

'उत्तर नूतन परिपाटी'-काल सवत् १९६१ से सवत् १९७५ तक अर्थात् सन् १९०४ से सन् १९१८ तक माना गया है।

और यही हिन्दी मे 'द्विवेदी-युग' कहलाता है परन्तु इस ग्रन्थ के रचयिताओं ने इस काल के वर्णन मे उनका उल्लेख केवल एक स्थान पर और सो भी उन्हें 'अदूरदर्शी' ठहराने के लिए किया है। साहित्य की प्रगति के बारे मे उनका कहीं नाम तक नही लिया है। नाम कैसे ले? द्विवेदी जी न निबन्धकार है, न अनुवादक है, न कवि है, न ग्रन्थकार है, न सम्पादक है। तब उल्लेख करे तो कैसे करे? झूठी प्रशसा या निन्दा का मूल्य उन्हें मालूम ही है। वे किसी की झूठी प्रशसा या निन्दा कैसे कर सकते है? उनके यहाँ उनका 'बैना' भी नहीं बाँटा जाता। तब यदि 'उत्तर नूतन परिपाटी' के असली निर्माता का उसके वर्णन मे उल्लेख न हो तो यह किसी तरह का अभाव न होगा। बहुत ठीक है!

लखनऊ के ये शिष्ट लेखक अपने गुरुजनों के सम्बन्ध मे कितना मुँहफट है, इसका एक नमूना और देखिये। उत्तर नूतन काल मे भी भारतेन्दुकालीन लेखको की मौजूदगी का उल्लेख करते हुए आप लोगो ने लिखा है—"चाहे उनमे उतनी कवित्व-शक्ति न हो, तो भी प्राचीनता के कारण उनकी मर्यादा विशेष है, और स्वय वे तथा अन्य साहित्यानुरागी उनकी महिमा कभी-कभी उचित से अधिक कहते है।"

भारतेन्दुकालीन उन लेखको को हम नही जानते। हाँ, मिश्रबन्धुओ को जानते हैं। वे हमारे लिए उन्ही की तरह प्राचीन लेखक भी है। अतएव भारतेन्दुकालीन लेखको के सम्बन्ध मे उन्होने जो यह सब लिखा हैं, वह हमारे विचार में तो वस्तुत उन्ही पर घटित होता दिखाई देता है। और हमारे इस 'कथन' का 'दृढ़ आधार' स्वय उनका यह भव्य ग्रन्थ है।

इस प्रकरण मे भी पूर्व-प्रकरण की तरह देश की राजनैतिक अवस्था तथा किसी दूसरी बात का परिचय देते हुए साहित्य

का प्रसग उठाया गया है परन्तु इस प्रकार के वर्णन मे अनेक स्थानो मे विश्रृङ्खलता आ गई है। जैसे—

"खडी बोली में इस काल मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पन्त, रामनरेश त्रिपाठी, लोचनप्रसाद, गोविन्दवल्लभ पन्त, चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि आदि उत्कृष्ट लेखक हैं। अन्तिम दो महाशय गद्य-काव्य के भी भारी रचयिता माने जा सकते है। छायावाद का कथन पहले अलकार-द्वारा होता था। इसे अन्योक्ति कहते है। कई कवियो ने अन्योक्ति पर कविता की है। व्यग्य का विषय भी इसी से मिलता है। प्रतापसाहि ने व्यग्यार्थ-कौमुदी नामक ग्रन्थ ही बनाया था, और बाबा दीनदयाल गिरि ने अन्योक्ति-कल्पद्रुम रचा। कबीरदास ने उल्टबाँसी आदि मे बहुत कुछ अन्योक्ति-गर्भित रचना की। जायसी, कुतबन शेख आदि अनेकानेक सूफी कवियो ने अपने कथा-प्रासगिक ग्रन्थो का कथा-विभाग छायावाद-गर्भित रक्खा। ब्लेक, उमर-खैयाम आदि भी ऐसे ही कवि है। वर्ड्सवर्थ, शैली आदि ने भी कुछ इसी प्रकार के कथन किये। कीट्स ने प्रकृति और सौन्दर्य का अच्छा अवलोकन किया। महाकवि रवीन्द्र महाशय भी कुछ ऐसी ही रचना करते है। उत्तर नूतन परिपाटी-काल मे ही वर्तमान छायावाद का प्रचार हिन्दी मे हुआ। जयशङ्करप्रसाद, मोहनलाल महतो तथा सुमित्रानन्दन पन्त इस काल के मुख्य छायावादी कवि है। निराला जी भी ऐसी ही रचना करते है, किन्तु केवल एक साल के अन्तर के कारण इनका विवरण आगे के अध्याय मे आवेगा। रहस्यवादी कवियो मे कुछ-कुछ आध्यात्मिकता, साम्प्रदायिकता आदि प्राय रहती है, यद्यपि अन्योक्ति के लिए किसी विशिष्ट विषय की आवश्यकता नहीं है। सबसे प्राचीन छायावादी साहित्य स्वय वेद भगवान् मे है।" (पृष्ठ ३३१)

यह लम्बा अवतरण हमने जानबूझ कर उद्धृत किया है। इससे यह भी अन्दाज लग जायगा कि इस ग्रन्थ मे किस तरह की बे-सिर-पैर की बाते लिखी गई है।

लेखक महोदयो ने सस्कृत-बहुल हिन्दी की बार-बार निन्दा की है। एक जगह वे लिखते है—"किन्तु पीछे से कुछ कवियो आदि ने इसमे अधिकाधिक सस्कृत-शब्दो का प्रयोग बढ़ाया, सो हमारी उच्च श्रेणी की समझी जानेवाली हिन्दी लोक-भाषा से दिनो दिन अधिकाधिक दूर होती जाती है, जिससे इसकी प्रतियोगिनी उर्दू का प्रभाव नगर-निवासी हिन्दुओ पर से शिथिल होने के स्थान पर दृढ़ हो रहा है।"

पर-उपदेश-कुशलता का यह एक सुन्दर नमूना है। एक ओर निन्दा तो करते हैं सस्कृत हिन्दी की, पर लिखते है खुद वैसे ही। इसी वाक्य मे आधे के लगभग सस्कृत-शब्द हैं। बलिहारी है इस 'आरोचन' की!

(३)

'उत्तर नूतन परिपाटी' के काल मे 'आज-कल' के एक नये शीर्षक के साथ पिछले १५ वर्ष की प्रगति का वर्णन किया गया है। इस 'आज-कल' की विवेचना मे ८ पृष्ठ खर्च किये गये है। इनमे तीन पृष्ठो मे महात्मा जी की प्रशसा और काग्रेस के आन्दोलन का वर्णन किया गया है परन्तु यह नहीं बताया गया है कि उनका साहित्य पर कहाँ तक प्रभाव पड़ा है। इससे यह वर्णन भी अनुपयुक्त-सा लगता है। इस पुस्तक की रचना मे पूर्वापर का ध्यान ही कहाँ रक्खा गया है? खैर, शेष पाँच पृष्ठो मे आज-कल के कोई ६५ लेखको की नामावली गिनाई गई है और उनकी विशेषताओ का भी सकेत किया गया है।

अत्यन्त खेद की बात है कि यह नामावली अपूर्ण ही नही है किन्तु इस बात का भी पता देती है कि मिश्रबन्धुओ का ज्ञान किस श्रेणी के लेखको या कवियो तक सीमित है। इस प्रकरण को पढ़ने के बाद ही हमने अपनी याददाश्त से ५५ साहित्यकारो की एक सूची तैयार की, जिनके नाम उक्त नामावली मे क्या, इस पुस्तक मे ही नही आये। लोग कह सकते है कि मिश्रबन्धुओ की निगाह मे वे सुलेखक या कवि न होगे। परन्तु जब उन्होने उन लोगो के नाम प्रशसा के साथ छापे है, जिन्होने हिन्दी मे एक भी पोथी नही लिखी है तब यह उत्तर कैसे मान्य हो सकेगा ? फिर हमारी सूची के लोग वास्तव मे हिन्दी के क्षेत्र मे अपना विशेष स्थान रखते है। और हमारा यह कथन भी दृढ़ आधार पर स्थित है।

अच्छा तो अब मिश्रबन्धुओ की उस सूची का नमूना देखिये। उन्होने 'देशभक्तो मे महात्मा जी के पीछे गणेशदत्त शर्मा, वशिष्टनारायण, मनोरञ्जनप्रसाद तथा श्रीरत्न शुक्ल' का नाम दिया है। आश्चर्य की बात है कि गत १५ वर्षो के भीतर यही तीन उत्कृष्ट देशभक्त कवि या लेखक हुए जब कि इन १५ वर्षो मे सारे देश मे देशभक्ति का तूफान आया हुआ था। परन्तु कलम तो मिश्रबन्धुओ के हाथ मे है। वे जहाँ चाहे जिसका नाम लिख दे। नहीं तो पण्डित गोकुलचन्द्र शर्मा ऐसे कौन बुरे थे, जिन्होने देशभक्तिपूरित महाकाव्य तक लिख डाले और इस भव्य ग्रन्थ में उनका नाम तक न लिया गया। परन्तु यह छान-बीन करे कौन ? जो ध्यान मे आया लिखा, हटाया।

व्याख्याताओ मे लेखकों ने एक भी हिन्दी-भाषी को दाद नही दी। लिख दिया—'महात्मा जी से इतर कोई मुख्य नाम नहीं है।' बहुत ठीक फर्माया !! सचमुच हिन्दी में कोई व्याख्याता नहीं है। कर्मवीर सुन्दरलाल, पण्डित कृष्णकान्त

मालवीय, स्वर्गीय कालाकॉकर-नरेश अवधेशसिंह, देशरत्न राजेन्द्र बाबू, स्वामी सत्यदेव, भाई परमानन्द, पण्डित गौरी-शङ्कर मिश्र, कुँवर रणञ्जयसिंह आदि प्रसिद्ध वक्ता क्या अँगरेजी के व्याख्याता होने के कारण समाज मे समादृत होते हैं ? मिश्रबन्धुओ की यह निस्सन्देह अनोखी सूझ है।

हास्य-रस के लेखको मे पण्डित बदरीनाथ भट्ट को प्रधान स्थान दिया गया है परन्तु 'आज-कल' के काल मे जो व्यक्ति हास्य-रस का एक विशिष्ट लेखक माना जाता है, उसका नाम उन्होने अपनी पुस्तक के एक कोने मे भी देना उचित नही समझा। जिसने बाबू अन्नपूर्णानन्द की रचनाये पढ़ी है, उसे यदि 'विनोद' मे वर्मा जी का उल्लेख न मिलेगा तो वह यही कहेगा कि लेखको को साहित्य की वर्तमान प्रगति का जरा भी पता नही है। अन्नपूर्णानन्द जैसे उत्कृष्ट लेखक की चर्चा न करके लेखक महोदयो ने यही व्यक्त किया है कि उन्होने यो ही यह किताब लिख डाली है, कोई जॉच-पड़ताल नही की है।

शास्त्रकारो मे 'धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, प्रसिद्धनारायणसिंह, अवधकिशोर वर्मा तथा चन्द्रशेखर शास्त्री' के नाम गिनाये गये है। परन्तु जिन बाबू सम्पूर्णानन्द, बाबू मुकुन्दीलाल, डाक्टर प्राणनाथ विद्यालङ्कार, डाक्टर गोरखप्रसाद, डाक्टर त्रिलोकी-नाथ वर्मा आदि महानुभावो ने वास्तव मे आधुनिक शास्त्रो पर महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ लिखे है, उनके नाम तक इस विशाल ग्रन्थ मे निर्दिष्ट नहीं किये गये हैं। यह कितने परिताप की बात है !!

नाटककारो में 'मधुवनी, हरद्वारप्रसाद तथा बलदेवप्रसाद मिश्र' का तो उल्लेख हुआ है पर पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र का कहीं नाम भी नहीं आ पाया है। इनके सात नाटक अब तक निकल चुके है, जिनमे एक नाटक की भूमिका इलाहाबाद-

यूनीवर्सिटी के अँगरेजी-विभाग के प्रधान अध्यापक पण्डित अमरनाथ झा ने लिखी है। पर मिश्रबन्धुओ को इस बात का कहाँ पता कि कौन कहाँ क्या लिख रहा है ? औपन्यासिकों मे 'ईश्वरीप्रसाद शर्मा, निराला जी, मधुवनी, सूर्यानन्द, लक्ष्मी-नारायणसिंह 'सुधाशु', के नाम हैं और आख्यायिकाकारो मे 'जनार्दन झा एव धन्यकुमार' हैं। परन्तु औपन्यासिकों मे पण्डित भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री शम्भूदयाल सक्सेना, पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', बाबू परिपूर्णानन्द वर्मा, बाबू ऋषभचरण जैन, श्री विश्वनाथसिंह शर्मा, श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर आदि की चर्चा तक नहीं की, यद्यपि इन सबने मौलिक उपन्यास लिखकर यश का अर्जन किया है। और कहानी-लेखको मे श्री विनोदशङ्कर व्यास, श्री अज्ञेय, श्री पदुमलाल बख्शी, पण्डित ज्वालादत्त शर्मा, श्री दुर्गानारायणसिंह, श्री श्रीगोपाल नेवटिया, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालकार, श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा, श्री सत्यजीवन वर्मा आदि को साफ उड़ा दिया है। सत्कवियो में 'निराला जी, रामलोचन शर्मा, गयाप्रसाद 'श्री हरि', रामाज्ञा द्विवेदी, पिगलसिंह, काशीनाथ द्विवेदी, रामसहाय पाँड़े, रामशङ्कर 'रसाल', उदयशङ्कर, प्रफुल्लचन्द्र ओझा, उमाशङ्कर 'उमेश', वैद्यनाथ मिश्र, जगन्नाथ मिश्र गौड़, भुवनेश्वरसिंह, रामचन्द्र शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल 'सरस', अनूप, रमाशङ्कर मिश्र, हृदयेश, अवधविहारी श्रीवास्तव, नन्दकिशोर झा, भगवतीचरण वर्मा' के नाम गिनाये हैं। परन्तु श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव, पण्डित भगवानदीन पाठक, पण्डित ललिताप्रसाद सुकुल एम० ए०, श्री बलदेवप्रसाद खरे, पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी, डाक्टर सत्यप्रकाश, श्री अज्ञेय, श्री नरेन्द्र आदि का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है।

अनुवादकर्ताओं में 'इकबाल वर्मा और धन्यकुमार जैन'

का उल्लेख किया है, पर श्री मन्तराम बी० ए०, श्री राहुल सांकृत्यायन आदि का नाम तक नहीं लिया गया है।

समालोचकों में 'कृष्णविहारी मिश्र और सरस को कथनीय' कहा है। इधर तुलसीदास पर आलोचना लिखनेवाले कामदार महाशय, गद्य-मीमांसा लिखनेवाले पण्डित रमाकान्त त्रिपाठी एम० ए०, प्रसाद जी के नाटकों की आलोचना लिखनेवाले पण्डित रामकृष्ण शुक्ल एम० ए०, श्री कृष्णानन्द तथा पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी एम० ए० आदि का उल्लेख तक नहीं किया। और तो और विचारपूर्ण समालोचना लिखने की परिपाटी डालनेवाले 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक श्री पदुमलाल बख्शी बी० ए० का तो नाम तक नहीं लिया गया है।

यही क्यों, भूगोल के सम्पादक प्रसिद्ध पर्यटक पण्डित रामनारायण मिश्र बी० ए०, आयुर्वेद-विषय के ग्रन्थकार पण्डित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, श्री हरिदास वैद्य, पण्डित हनूमानप्रसाद वैद्य-शास्त्री, विज्ञान के सम्पादक और साहित्य-सम्मेलन के मुख्य कार्यकर्ता प्रोफेसर व्रजराज, विज्ञान के कई ग्रन्थों के लेखक डाक्टर सत्यप्रकाश एवं इतिहास-कार श्री हरिविलास सारदा, महाराजकुमार रघुवीरसिंह एम० ए०, एल-एल० बी०, गदर के इतिहास के लेखक श्री शिवनारायणजी एवं पण्डित गंगाशंकर मिश्र एम० ए० तथा ईरान-यात्रा के लेखक श्री महेशप्रसाद, मौलवी आलिम फाजिल, श्रीराम वाजपेयी, 'अक्षर-विज्ञान' और 'वैदिक सम्पत्ति' के लेखक पण्डित रघुनन्दन शर्मा, 'भगवान् कृष्ण' के लेखक पण्डित चमूपति एम० ए०, आचार्य देव शर्मा, श्री जयदयाल गोयन्दका, महात्मा भोले बाबा, श्री जहूरबख्श, श्री एन० सी० मेहता, पण्डित रामकिशोर मालवीय, श्री सत्यभक्त, श्री सत्यव्रत,

श्री आनन्द भिक्षु, श्री राधामोहन गोकुलजी, श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा, भाषा-विज्ञान के लेखक श्री नलिनीमोहन सान्याल एम० ए०, श्री पारसनाथसिंह, प्रसिद्ध लेखक श्रीराम शर्मा आदि लेखको एव ग्रन्थकारो का इस ग्रन्थ मे उल्लेख न होने से इस पुस्तक मे कितनी भारी कमी आ गई है, यह सोचने की बात है। ये जो थोड़े नाम हमने यहाँ गिनाये है, यो ही अलल-टप्पू नही, ये सर्वविदित है। और यही नाम इस पुस्तक मे नही दिये गये है। यह हाल है 'आज-कल' के प्रकरण का! तब इसके पहले के प्रकरणो से सम्बन्ध रखनेवाले कवियो और लेखको का नाम देने तथा उन्हे उत्कृष्ट या निकृष्ट बनाने मे जो धींगा-धींगी हुई होगी, उसकी तो थाह न होगी। यह पुस्तक ऐसी ही अधूरी और असुन्दर पुस्तक है।

(५)

अब यहाँ हम कुछ फुटकर भ्रान्तियो का उल्लेख करेगे। इनके देखने से मालूम हो जायगा कि हिन्दी के इन धुक्कड लिक्खाड़ो ने हिन्दी के क्षेत्र मे कितनी गलतफहमी फैलाने की दुश्चेष्टा की है।

न० ३५६४ मे 'सुन्दरलाल जी, कटरा, प्रयाग' का जिक्र है। इन्हें 'भारत मे अँगरेजी राज्य' का कर्ता और देशभक्त राष्ट्रिय कार्य-कर्त्ता लिखा है। इस कथन का सम्बन्ध कर्मवीर सुन्दरलाल से है, जिनकी वाग्मिता एव साहित्य-सेवा पर इस पुस्तक मे धूल डालने की ढिठाई की गई है। कौन नही जानता कि कर्मवीर सुन्दरलाल एक देश-भक्त सन्यासी है, हिन्दी के वक्ताओ मे अद्वितीय है। साथ ही एक कुशल सम्पादक रहे हैं एव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का भी प्रणयन किया है। परन्तु ग्रन्थकारो ने उन्हें बाल-साहित्य के पुराने लेखक पण्डित सुन्दरलाल

द्विवेदी के नाम में निहित करके अपनी विमल बहुज्ञता का परिचय दिया है।

नं० ३५१४ में तथा नं० ३५७६ में दामोदरसहायसिंह 'कवि-किंकर' का दो बार उल्लेख किया गया है। और मजा यह कि विवरण भिन्न-भिन्न दिया गया है।

नं० ३६२४ में (महाराज) जवानसिंह (जी) के परिचय में लिखा है—'महाराज पृथ्वीसिंह के पुत्र तथा वर्तमान महाराजा के पिता थे।' कहाँ के वर्तमान महाराज, यह लिखना शायद उचित नहीं समझा गया!

नं० ३६११ के 'चन्द्रशेखर शास्त्री प्रयागनिवासी' ' दर्शन-शास्त्री हैं'। नहीं साहब केवल 'साहित्याचार्य थे'।

नं० ३६१५ के 'रामचन्द्र शुक्ल, मिर्जापुर 'कवि एवं लेखक हैं। मिश्रबन्धु नाम सुनते ही जामे से बाहर हो जाते हैं। और बातों में उच्च कोटि के लेखक और समालोचक हैं।' हम शुक्ल जी को एक शान्त और गम्भीर व्यक्ति समझते थे। यह जानकर किसे आश्चर्य न होगा कि वे किसी का नाम भर सुनने से जामे से बाहर हो जाते हैं। क्या खूब! वह भाषा का इतिहास किस काम का, जिसमें व्यक्तिगत 'रँड़हाव-भतरहाव' की पुट बीच-बीच में चमकती-दमकती न दिखाई दे! शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखकर बुरा किया। यदि उसमें उन्होंने मिश्रबन्धुओं को उत्कृष्ट समालोचक नहीं स्वीकार किया तो यह केवल एक मतभेद भर ही हुआ। परन्तु मिश्रबन्धु उनकी इस 'कृतघ्नता' को कैसे क्षमा कर सकते हैं? इसी से इस स्थल पर हिन्दी के इस तपस्वी विद्वान् की शिष्टता का उपमर्दन किया गया है।

नं० ३६७६ में सूर्यप्रसाद जी त्रिपाठी नाम के बाराबंकी के देहात के एक कवि का कथन हुआ है। उनकी कविता के तीन

नमूने दिये गये हैं। इनमे दो मिश्रबन्धुओ की प्रशसा मे हैं। उनमे एक इस प्रकार है—

> कोई कहे हिन्दी की महानता के सागर मे
> ओज मुकुता की यह सीप शुभ्र साँची है।
> कोई कहे कवियो की कल्पना मे भारती के—
> भावो की छिटक रही छटा जग जाँची है।
> किन्तु मिश्रबन्धु जी कहेंगे हम भारत में
> भ्राति रजनी ने जहाँ श्याम रेख खाँची है।
> प्रतिभा महान ये तुम्हारी लेखनी की वहाँ
> गौरव दिनेश की किरण बन नाची है।

दोहाई कवि जी की! ऐसा नही है। इससे सरस्वती देवी का अपमान होता है। और नही, उनके इस विनोद का ही एक बार अवलोकन कर लीजिए। यह तो भ्रान्तियो का पिटारा है। इसमे तो उनकी प्रतिभा जुगनू की भी भाँति टिमटिमाती हुई नही देख पड़ती, 'दिनेश की किरण' होना तो दूर रहा।

न० ३६४१ मे 'गोविन्दवल्लभ पन्त' का उल्लेख है। पन्त जी वही लखनऊ मे गगा-पुस्तक-माला में बहुत दिन से काम करते है। परन्तु ग्रन्थकारो ने उन्हें इन प्रान्तो के सर्व-प्रधान लोकनेता पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त के रूप मे ही देखा-जाना है। इसी से उन्होने साहित्यिक गोविन्दवल्लभ पन्त जी को 'राजनैतिक कामो मे बहुत व्यस्त' बताकर अमर कवि के पद से वञ्चित कर दिया है। मिश्रबन्धुओं की तर्क-प्रणाली का यह एक अनोखा नमूना है।

न० ३६५६ मे 'रामचन्द्र टण्डन' का कथन है। विवरण मे लिखा है—'आप नागरी-प्रचारिणी सभा मे अच्छा काम करते हैं'। यह कितना अनर्गल कथन है! काशी की सभा

मे रामचन्द्र वर्मा अच्छा काम करते है। रामचन्द्र टण्डन तो हिन्दुस्तानी एकेडेमी मे 'अच्छा' काम करते है, जिससे मिश्रबन्धु सबसे अधिक परिचित भी हैं। 'दृढ़ आधार' के कथन का सचमुच यह एक सुन्दर नमूना है!

नं० ३९८४ मे 'जगद्विहारी सेठ' के रचित ग्रन्थ इस प्रकार गिनाये गये है—(१) प्राचीन भारत के उपनिवेश, (२) वाटरलू का युद्ध, (३) प्राकृतिक दृश्य, (४) बम्बई प्रान्त का पर्यटन, (५) बसविहीन लन्दन, (६) पदार्थ किस प्रकार बना है, (७) बिजली के लैम्प, (८) बिजली की चालक शक्ति। वास्तव मे ये लेख हैं। परन्तु अपनी बहुज्ञता से मिश्रबन्धुओ ने इन्हें ग्रन्थ बना दिया है। इस पुस्तक मे उन्होंने ऐसा ही गोरखधन्धा किया है।

न० ३९९६ मे 'राहुल साकृत्यायन' का उल्लेख है। परिचय में लिखा है—'आपका कोई ग्रन्थ हमारे देखने मे नही आया।' देखने मे कैसे आवे? आप कभी कोई ग्रन्थ देखते भी हैं? यदि यही बात होती तो आपका यह ग्रन्थ इस तरह ऊल-जलूल क्यो लिखा जाता? राहुल जी ने बुद्धचर्या, मज्झिमनिकाय और तिब्बत-यात्रा जैसे विशालकाय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखकर हिन्दी की अपूर्व सेवा की है। परन्तु मिश्रबन्धु ऐसी आधुनिक रचनाये कहाँ पढते हैं? वे तो पुराने ढग की कविताओ, आख्यायिकाओ आदि के पढने का ही प्राय· आनन्द लिया करते हैं। इसी से इस प्रकार के लेखकों की चर्चा भी उनके इस ग्रन्थ मे ढूँढ ढूँढकर की गई है।

न० ४००२ मे 'सुमित्रानन्दन पन्त' का उल्लेख है। मिश्रबन्धु पन्त जी के कवित्व पर अत्यन्त मुग्ध है और उन्हें वर्तमान समय का सर्वोत्कृष्ट कवि समझते हैं। उन्होने उनकी

रचनाओं में 'वीणा', 'पल्लव' और 'गुञ्जन' का उल्लेख किया है और लिखा है कि ये 'तीनो ग्रन्थ हमारे देखे हुए हैं।' परन्तु उनका यह कथन भ्रान्त है, उन्होंने पन्त जी का कम-से-कम गुञ्जन नहीं देखा है। नहीं तो वे 'गुञ्जन' को 'नाटक' बताने की भूल न करते। पन्त जी के नाटक का नाम 'ज्योत्स्ना' है। परन्तु मिश्रबन्धु ऐसी क्षुद्र भूलों की कहाँ परवा करते हैं?

नं० ४०१७. मे 'अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी' का जिक्र है। लिखा है—'नृसिह, हिन्दीबगवासी एव हितवर्ता का सम्पादन किया'। वाजपेयी जी ने दैनिक भारतमित्र और बाद को दैनिक स्वतन्त्र भी निकाला। 'हिन्दीकौमुदी' नाम का एक उत्कृष्ट व्याकरण तथा 'शिक्षा' नाम की एक उत्तम पुस्तक बँगला से अनूदित की परन्तु हिन्दी के ऐसे महारथी भी मिश्रबन्धुओ की दृष्टि मे उपेक्षा के पात्र ही ठहरते हैं क्योंकि वाजपेयी जी ने कभी उनकी हाँ-में-हाँ नही मिलाई।

नं० ४१०८ मे 'भोलानाथ राधाबल्लभी' का उल्लेख है। ग्रन्थ के नाम मे 'स्फुट पद' हैं। विवरण में लिखा है—'हिन्दी-साहित्य को ऐसी ऐसी पुस्तकों की बड़ी ही आवश्यकता है। बाबू साहब ने एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। आपने अमेरिका और जापान जाकर विद्या पढ़ी थी।' इस कथन को पढकर कौन नहीं कह उठेगा कि यह पुस्तक पीनक की झोक में लिखी गई है।

नं० ४११२ मे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'रामचरित उपाध्याय' का उल्लेख हुआ है और उनका निवास-स्थान 'आजमगढ़' के बजाय नरसिंहगढ़, मालवा, बताया गया है। जब हमारे बड़े बडे साहित्यिकों के सम्बन्ध में इस तरह की गलत बाते लिखी गई हैं तब नगण्य और साधारण लेखकों के सम्बन्ध में तो और भी ऊटपटॉग लिखा गया होगा।

नं० ४२३८ में 'डाक्टर बेनीप्रसाद' का उल्लेख है। उनके सूरदास, जहाँगीरशाह (?) (अँगरेजी मे) और 'हिन्दोस्तान की पुरानी सभ्यता' नाम के ग्रन्थ बताये गये हैं। पर डाक्टर साहब ने सूरदास नाम का ग्रन्थ हिन्दी मे नहीं लिखा है। 'संक्षिप्त सूरसागर' अलबत्ता सकलित किया है।

प्रन्तु किया क्या जाय ? ग्रन्थप्रणेता बनने की हविस से मिश्रबन्धु लाचार हैं। न साहित्य का ज्ञान है, न उसकी वर्तमान अवस्था का ही उन्हें पता है, तो भी ग्रन्थ-प्रणेता बनने का लोभ संवरण नही कर सकते। तब तो उनसे वैसी भयंकर भूले होंगी ही, जो थर्ड क्लास के भी लेखक न करेंगे।

न० ४२८७ में गणेशदत्त शर्मा गौड, उपनाम 'इन्द्र' का उल्लेख हुआ है। इन्हें लेखको ने 'सफल सम्पादक' की उपाधि दे डाली है। जान पड़ता है, लेखक महोदय 'इन्द्र' उपनाम देखकर धोखा खा गये हैं। बलिहारी है इस साहित्य-विदग्धता की !

नं० ४३७५ में रामचन्द्र शुक्ल (सरस) का उल्लेख है। इनको लेखको ने 'एम० ए०' लिख दिया है। न मालूम किस 'दृढ़ आधार' पर यह बात उन्होने लिखी है ? क्या सरस जी द्वारा सम्पादित इनके भाई के उस ग्रन्थ में जो रावराजा साहब को समर्पित किया गया है, उन्होंने अपने को एम० ए० लिखा है या यह लेखकों की उदारता का एक अभिनव नमूना है ? इसका रहस्य भगवान् ही जाने।

नं० ४३७६ में कानपुर के 'हृदयेश' जी का उल्लेख किया है और उन्हें 'आज काल के परमोत्कृष्ट कवि' माना है। बहुत खूब ! परन्तु मिश्रबन्धु अपने इस 'परमोत्कृष्ट' कवि से, जान पड़ता है, परिचित तक नहीं हैं। अन्यथा उन्हें 'त्रिपाठी' न लिखते। वे खरे 'पाण्डेय' हैं। यदि रचनाये पढ़ी होगी तो

उनके साथ 'त्रिपाठी' नही, 'पाण्डेय' ही पढ़ने को मिला होगा।' पर यदि ये त्रिपाठी जी कोई दूसरे 'हृदयेश' हों तो हम अपना यह कथन वापस लेते हैं और हिन्दी में 'हृदयेश त्रिपाठी' नामक एक सर्वोत्कृष्ट कवि पैदा कर देने के लिये मिश्रबन्धुओं को धन्यवाद देते हैं।

नं० ४३८३ मे 'लक्ष्मीनारायण गुप्त अमौलिक' का उल्लेख है। अमौलिक जी का नाम अभी हिन्दी मे नही हुआ, पर मिश्रबन्धुओ ने उनकी अप्रकाशित पुस्तके पढकर उन्हें 'श्रेष्ठ समालोचक' लिख दिया है। पिछले वर्ष अमौलिक जी के हमे दर्शन हुए थे। आप मिश्रबन्धुओ के भक्त हैं। आपने उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित करने का एक उपयुक्त प्रस्ताव हमसे किया था। तब यदि वे इस तरह प्रसिद्ध किये गये हैं तो यह स्वाभाविक ही है।

नं० ४५०६ में 'जैनेन्द्रकिशोर' का उल्लेख हुआ है। इसी पुस्तक में इनका उल्लेख अन्यत्र दो स्थानो मे हुआ है।

(६)

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से पाठको को पता लग गया होगा कि मिश्रबन्धुओ की यह रचना कितनी भ्रांतिमूलक, अनर्गल एवं पक्षपात-पूर्ण है। वास्तव मे इसकी रचना ग्रन्थकारो ने इस मतलब से की है कि हिन्दी के क्षेत्र में वही लोग सब कुछ समझे जायॅ। कदाचित् इसीलिये इस ग्रन्थ में उन्होने अपना, अपने कुटुम्बियो का, अपने सम्बन्धियो का, अपने इष्ट-मित्रो का, अपने आश्रितजनो का—यदि उनमे से किसी ने जानबूझ कर या अनजान मे एक भी पद्य लिख दिया है तो उसका भी, वर्णन विशेषता-पूर्वक किया है। परन्तु जिन हिन्दी-लेखको ने या कवियों ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से हिन्दी के साहित्य को अलंकृत किया है उनकी उपेक्षा की गई है, यहाँ

तक कि उनमें से कितनों का कहीं नाम तक उल्लेख नहीं किया गया है। और जिनका लाचार होकर या किसी कारणवश उल्लेख भी किया गया, उनका वर्णन ऊट-पटॉग लिखा गया है, जिससे उनके महत्त्व का बोध ही नही होता। यह किनना भारी अन्याय किया गया है!

वास्तव में इस ग्रन्थ मे जो कुछ लिखा गया है, उसका अधिकांश कथन भ्रान्त, निर्मूल, ऊलजलूल और अपमानजनक पक्षपातपूर्ण ही नहीं है, किन्तु उससे यह भी व्यक्त होता है कि इसके लेखक यद्यपि ३५-३६ वर्ष से हिन्दी के क्षेत्र में लगातार कार्य कर रहे हैं, तो भी उनको उसका या तो ज्ञान नहीं हुआ है या स्वय भ्रम मे पड़कर अपनी अज्ञता का परिचय दिया है।

मिश्रबन्धुओं को जान लेना चाहिये कि अब हिन्दीवालो को काफी तमीज हो गई है और वे जान सकते हैं कि कौन कैसा लिखता है। कौन नही जानता कि महायुद्ध के बाद हिंदी के क्षेत्र में उन्नति का बवंडर-सा आ गया है और गत १५-२० वर्षो मे कोई सौ डेढ़ सौ नये प्रतिभावान् लेखकों ने अपनी मौलिक रचनाओं से हिन्दी को गौरवान्वित किया है। ऐसी दशा मे उनका प्रामाणिक विवरण वही व्यक्ति दे सकता है, जिसने या तो सब रचनायें पढ़ी हैं, या उनके सम्बन्ध में सहृदयता के साथ जाँच-पड़ताल की है। 'विनोद' की जो थोड़ी भूलें हमने ऊपर दिखाई है, उनसे भले प्रकार प्रकट हो जाता है कि मिश्रबन्धुओं को हिन्दी के इस अभ्युदय-काल मे ऐसी भोंड़ी पुस्तक नहीं लिखनी चाहिये थी। इसे लिखने मे उन्होने अनधिकारी का काम किया है, जिससे उल्टा उन्ही की हानि हुई है, उनकी साहित्यिक प्रतिष्ठा में इस रचना से बट्टा लगा है।

जनवरी १९३५

२१—लॅहगहे साहित्यिक

२६ मार्च के 'अभ्युदय' मे लॅहगहे साहित्यिको के सम्बन्ध में सम्पादकीय नोट लिखकर 'अभ्युदय' के सम्पादक महोदय ने सचमुच बड़ा उपयोगी कार्य किया है। इन रँगे सिआरो के मारे वास्तव में हिन्दी साहित्य आगे नहीं बढ़ पाता। और वे समय-असमय में अपनी असगल वाणी बोला ही करते हैं। इन बेचारो मे इतना दम तो है नहो कि कोई अच्छी बात सामने लाकर साहित्य की उपयुक्त सेवा करे, और यदि कोई प्रतिभावान् व्यक्ति आगे आकर अपनी प्रतिभा से साहित्य मे क्रान्ति उपस्थित करने लगता है तो ये लोग साहित्य के ठेकेदार बन कर उल्टे उसके कार्य मे विघ्न डालने लगते हैं। उस समय ये अपने जनानखाने में बैठकर जो हलाहल वमन करना प्रारम्भ करते हैं, उससे इनका असली रूप प्रकट हो जाता है परन्तु इनका यह क्रिया-कलाप मित्रों की गोष्ठियो तक ही सीमित रहने से इनका परिचय सर्वसाधारण को नहीं प्राप्त हो पाता। भला हो 'अभ्युदय' का कि उसने इनका उल्लेख ही नहीं किया है किन्तु उसका नामकरण भी कर दिया है।

'अभ्युदय' के उक्त नोट में लिखा गया है कि आचार्य द्विवेदी जी को भी इन लॅहगहा साहित्यिकों से पाला पड़ा था पर उन्होने इनको ऐसी टॅगड़ी लगाई थी कि बेचारे चारों खाने चित्त हो गये थे, यहाँ तक कि उसकी चोट आज भी ये लोग सुहलाते रहते हैं। मार्च के 'हंस' में 'हिन्दी के फाटक' के परिचय में उसके लेखक ने द्विवेदीजी-सम्बन्धी उक्त घटना का उल्लेख करते समय उन लोगो के मनोभावो का आज २५ वर्ष बाद उसी स्वर में पता दिया है। यह उल्लेख इस

बात का एक और प्रमाण हुआ कि लॅहगहे साहित्यिक किस प्रकार अपनी करतूत दिखलाते रहते हैं। इसी से आज जब एक आदमी मोहग्रस्त हिन्दीवालो को अपनी नैसर्गिक प्रतिभा से प्रबुद्ध करने का सतत प्रयत्न कर रहा है तब ये 'बिन काज दाहने बाएँ' रहनेवाले अपने स्वभाव से कैसे विमुख हो सकते हैं। ऐसे अवसर पर इनका यह प्रधान कर्तव्य हो जाता है कि ये अपना जौहर प्रकट करे, और इनका जौहर बीबी के सामने या मित्र-गोष्ठी में विवाद के विषय को व्यक्तिगत विषय बनाकर छातियाँ पीटना और रोना-चिल्लाना एवं हाय-हाय करना होता है।

इनको न तो हिन्दी के वर्तमान साहित्य की गतिविधि का पता रहता है, न उसका पता रखने को ये उत्सुक ही रहते हैं। इनको इन सब बातो की जरूरत भी नही रहती। जरूरत रहती है सिर्फ हिन्दी के मार्ग मे इसलिए पाँव अडाने की कि लोग समझते रहें कि ये लोग भी हिन्दी के धुरन्धर साहित्यिक हैं परन्तु साहित्य में कोरमकोर होने से ये उसके सम्बन्ध में जो उछल-कूद मचाने लगते हैं, उससे ये अपने आप ही उपहास्य हो जाते हैं। उदाहरण के लिए उन महत्वपूर्ण लेखों को लीजिये, जिनसे हिन्दी के सुलेखकों को नये दृष्टिकोण से विचार करने की प्रेरणा मिलती रहती है परन्तु उन लेखो को हमारे लॅहगहे साहित्यिक अपना रोबदाब दिखलाने के लिए उपयुक्त साधन बनाया करते हैं। इनसे उन लोगों के जनानेखाने तथा उठने-बैठने के कमरे साहित्यिक रंगमंचो में परिणत रहते हैं। इनकी जनानी तथा मर्दानी गोष्ठियों में नये उठाये हुए प्रश्नो पर विचार नही होता किन्तु प्रश्न उठानेवालों का मुँह बन्द करने के लिए एक होहल्ला मचाया जाता है कि यह तो व्रजभाषा के उन्मूलन करने का षड्यन्त्र रचा जा रह है

साहित्यिक चर्चा की आड मे धर्म-भावों पर चोट पहुँचाई जा रही है और हिन्दी के बडे-बूढो की पगिया उछाली जा रही है। इस प्रकार भीतर-ही-भीतर होहल्ला जारी रखकर ये लोग हिन्दी की साधारण जनता को उस सत्कार्य के विरुद्ध बरगलाते हैं, और इस कार्य को वे ही महानुभाव करते दिखाई दे रहे हैं, जो कम-से-कम हिन्दी के कुछ चुने हुए विद्वानो में अपनी गणना कराने का गर्व करते हैं।

लॅहगहे साहित्यिक, जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, रँगे सियार ही होते हैं। उनको साहित्य का ज्ञान नाममात्र को भी नही होता। इन्हें न किसी तरह की फिक्र, न धन की चोट ये धंधूसर लोग और करें तो क्या करें।

हिन्दी के प्रबुद्ध साहित्यकारो का यह कर्तव्य है कि वे इन लॅहगहों का भण्डाफोड करें और घूँघट के भीतर चुपचाप लटकन चबाते रहने की इनकी मनोवृत्ति का पर्दाफाश करें, अन्यथा ये चुपके-चुपके साहित्य के अहित का कार्य बराबर करते रहेंगे, और जब कभी कोई साहित्यिक साहित्य के संस्कार का कार्य करना आरम्भ करेगा और उसके कार्य से इनके प्रिय विषय के दोषों का रहस्योद्घाटन किया जायगा, तभी ये लोग अपने चंद्रपन का परिचय देकर उस साहित्यिक को साहित्य के ज्ञान से बहिष्कृत करने का प्रयत्न करना शुरू कर देंगे। अतएव यह परमावश्यक है कि इन्हें पर्दे के भीतर से निकाल कर इन लोगो को बताया जाय कि जिन महानुभावों के गुप्त कुचक्रों के कारण हमारा राष्ट्र-भाषा के साहित्य में जीवन का संचार नही हो पाता, वे यही लॅहगहे साहित्यिक हैं, जो साहित्य के बगुलाभगतों के रूप में अपनी साहित्यिक विलासिता को तृप्त करने के लिए साहित्य-सरिता के तट पर अपने ध्यान में मग्न बैठे रहते हैं। ये लॅहगहे साहित्यिक और

कोई नहीं, हमारे नायिका-भेदी तथा आधुनिकता का बाना धारण करनेवाले छायावादी कवि यूनीवर्सिटियो के रीडरबाज धनलोलुप प्रोफेसर तथा दूसरों की रचनाओ को अपने नाम से छपवाकर ग्रन्थकार बनने की हविस रखनेवाले कुछ सरकारी साहित्यिक अधिकारी ही हैं। इन सबका नामोल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है क्योकि ये सर्वविदित हैं।

साहित्यक्षेत्र के नवयुवको से हमारी अपील है कि इन लॅहगह्लो से अपने पुनीत साहित्य की रक्षा करने को आगे आएँ और इनके कुचक्रो का जाल छिन्नभिन्न करके इनके असली रूप का परिचय सर्वसाधारण को दे ताकि वे जान ले कि यह मुहम्मदशाह रँगीले का जमाना नही है, किन्तु गाधी-युग है।

२३ अप्रैल १६३४

२२—एक धनकुबेर का क्रोध

कलकत्ते से लेकर लाहौर तक हिन्दी के पत्रो का पूरा दौरदौरा है। इस समय वे काफी बड़ी सख्या में निकल रहे हैं। दैनिक, साप्ताहिक, मासिक आदि तरह तरह के पत्र प्रकाशित हो रहे है और इनमें प्रायः सभी कोई न कोई खास उद्देश्य को लेकर ही चल रहे हैं, और वे अपनी निर्दिष्ट नीति से विचलित भी नही हैं। गत ६० वर्ष से ये हिन्दी भाषियो में राष्ट्रिय भावना के भरने का महत् कार्य कर रहे है। हिन्दी-भाषी जनता मे जो आज यह विराट् जागरण दृष्टि गोचर हो रहा है, उसका अधिकाश श्रेय हिन्दी के इन टुटपुँजिये पत्रो को ही है। इन्होने राष्ट्रिय सन्देश को भारत के कोने कोने मे पहुँचाया

ही नहीं है किन्तु ६० वर्ष से उसका पाठ भारतीय जनता को बराबर सुनाते चले आये हैं।

परन्तु दुःख की बात है कि देश के कुछ बड़े लोग हिन्दी के पत्रो की इस महान सेवा को कुछ गिनते ही नहीं और मौका पाते ही हिन्दी के पत्रों की विगर्हणा करना वे अपने किसी विशेष कर्त्तव्य की पूर्ति सा समझते हैं। अभी हाल में ही एक महानुभाव ने अपने इस कर्त्तव्य-पालन का एक ताजा उदाहरण दे डाला है। कुछ दिन हुए, हिन्दी के एक युवक सम्पादक महोदय ने एक नया साप्ताहिक निकाला। उसके लिए 'शुभ कामना' माँगने के लिए वे एक प्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी धनकुबेर की सेवा मे उपस्थित हुए। स्वभाव से ही अतिशय उदार होने के कारण उन्होने एक 'शुभ कामना' लिखकर दे दी। याचक उनके दरवाजे से आज तक कभी खाली हाथ नहीं गया था। तब एक विचक्षण साहित्यकार, फिर एक अनोखा सम्पादक कैसे निराश होकर लौट जाता? सम्पादक महोदय ने उनकी 'शुभ कामना' को गौतम बुद्ध के 'उदान' के रूप मे ही ग्रहण किया। झट उसका ब्लाक बनवा डाला और उसे अपने साप्ताहिक के एक खास स्थान में छाप दिया। सम्पादक महोदय ने उस 'उदान' को अपने पत्र मे इस मतलब से छापा कि लोग समझेंगे कि पत्र का सम्पादक बड़ी पहुँच का आदमी है। उसकी राहरस्म ऐसे बड़े धनकुबेर से है तब वह खुद भी ऊँची हैसियत का आदमी होगा और ऐसी दशा मे उसका पत्र भी काफी प्रभावशाली होगा।

यहाँ तक तो ठीक था। परन्तु उन महानुभाव की उक्त 'शुभ कामना' एक भयानक वस्तु है। शायद ही कोई ऐसा हिन्दी-प्रेमी मिलेगा, जो उसे पढ़कर जामे से बाहर नहीं हो जायगा। उन धनकुबेर महोदय की उस 'शुभकामना' का यह आशय है

कि हिन्दी में जितने पत्र आज तक निकले हैं तथा जो इस समय निकल रहे हैं, सबके सब दो कौड़ी के हैं और वे परस्पर कुत्तों की तरह लड़ते रहते हैं तथा निन्दावाद के पुजारी हैं। उन्होंने उस पत्र के सम्पादक को सलाह दी है कि यदि आपका पत्र हिन्दी के पत्रों के इस आदर्श को छोड़कर अपने लिए लोक-सेवा का आदर्श निर्दिष्ट करके कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होगा तो बेशक आपका पत्र लोकप्रिय होगा।

हमें इस बात का पता नहीं है कि हिन्दी के पत्रों के सम्बन्ध में इस प्रकार का फतवा देनेवाले भारत के ये प्रसिद्ध धनकुबेर हिन्दी के पत्रों का कितना अनुभव रखते हैं। परन्तु हम यह जरूर जानते हैं कि हिन्दी में ऐसे दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक वर्षों से निकल रहे हैं, जिनसे कोई भी अन्य भाषा-भाषी प्रान्त ईर्ष्या कर सकता है। जिस हिन्दी में 'आज', हिन्दुस्तान', 'भारत,' 'प्रताप', 'अर्जुन', 'वर्तमान', 'हिन्दी-मिलाप' आदि जैसे उच्च कोटि के दैनिक निकल रहे हों, उस हिन्दी के पत्रों की एक सिरे से निन्दा कर डालना कम-से-कम किसी ऐसे धनकुबेर का—और सो भी वैसे धनकुबेर का, जिसने वास्तव में आजीवन देश की तन-मन और धन से दिल खोल कर सेवा की है, काम नहीं है। हिन्दी के पत्रों को बुरा बताकर वे कुछ अधिक श्रेष्ठ नहीं हो गये हैं, उल्टा वे अपने आप उपहास्य हो गये हैं। उक्त महाजन के फतवे को पढ़कर हिन्दी के पत्रकार तो यही कहेंगे कि जिसे वे सिंह समझ रहे थे; वह कुछ और ही निकला क्योंकि उनका वह फतवा बेबुनियाद है।

हम मानते हैं कि किसी एक साप्ताहिक ने या किसी एक मासिक ने उनकी निन्दा गलती से या जानबूझ कर कर डाली है तो इसके लिए हिन्दी के सारे-के-सारे पत्र दोजख के कीड़े बताये जाँय, यह तो उनके जैसे महान् व्यक्ति के लिए शोभा

की बात नहीं है। चाहे जो हो, उन्होंने वह 'शुभ कामना' लिख कर अनधिकार चेष्टा ही नहीं की है किन्तु वैसा करके उन्होंने भारी अनाचार किया है। हिन्दी पत्रों के सम्बन्ध में उन्होंने जो अपमान-जनक बात लिखी है, आज का जागृत हिन्दी-भाषी राष्ट्र उसे इसलिए नहीं मान लेगा कि वह राष्ट्र के एक ऐसे महान् पुरुष ने लिखी है, जिसे देश के चोटी के नेता तक सम्मान प्रदान करते हैं। हिन्दी-भाषी जनता जानती है कि उसके ये टुटपुँजिये पत्र ही उसके असली हित-चिन्तक हैं और उन्हीं की अनवरत चेष्टा से उसमें आज स्वाभिमान का भाव जागृत हुआ है। ऐसी दशा में कैसा ही विशिष्ट व्यक्ति कोई क्यों न हो, उसकी विगर्हणा का उस जनता पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? यह तो खुद उन महानुभाव को ही सोचना चाहिये था कि वे जो कुछ लिखने को उद्यत हुये हैं, उसका लिखना कहाँ तक ठीक है। परन्तु वे थे आवेश में क्योंकि हिन्दी के दो पत्रों ने उनकी शान के विरुद्ध कुछ कहने का दुःसाहस किया था। फलतः मौका पाने पर वे नहीं चूके और उस 'शुभ कामना' के द्वारा अपने दिल के फफोले फोड़ डाले। खैर, यह अच्छा ही हुआ कि उनकी इस क्रिया से उनके मनस्ताप का कुछ निवारण तो हो गया।

अब रहे हिन्दी के पत्र सो उनके कान में जूँ तक नहीं रेंगी और उन्होंने उस 'शुभ कामना' के द्वारा किये गये निन्दापूर्ण आरोपों को एक कायर की तरह चुपचाप सह लेना ही अपने लिए हितकर समझा। हम भी उनके इस मनोभाव का समर्थन करते यदि हम भी अन्य लोगों की तरह यही मानते होते कि पत्र अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझते हैं और उनकी अपनी कोई नीति नहीं है।

२३ अगस्त १९३८